गीत-फ़रोश

भवानीप्रसाद मिश्र

१९३३-१९४७

हैदराबाद
नवहिन्द प्रकाशन

प्रथम प्रकाशन, १९५६

प्रकाशक :

नवहिन्द प्रकाशन

८३१, बेगमबाज़ार, हैदराबाद

मुद्रक :

कर्माशियल प्रिंटिंग प्रेस

८३१, बेगमबाज़ार, हैदराबाद

आवरण :

जगदीश मित्तल

मूल्य ५)

गीत-फ़रोश

दादा जी को

'गीत-फ़रोश' में कवि की १९३० से १९४५ तक की कवि द्वारा संकलित रचनाएँ हैं—१९४७ की एक कविता 'गीत-फ़रोश' और १९५३ की एक कविता (जो प्रस्तुत संकलन की भूमिका-स्वरूप है) 'शब्दों के महल' को छोड़ कर। ये दो कविताएँ कवि की वर्तमान दिशा सूचित करती हैं।

अनुक्रम

भूमिका

पहले पहल,
शब्दों के महल,
जब मैंने बनाये,
तो वे
मुझे बहुत भाये !
मैंने उनका बड़ा सिंगार किया,
और कभी-कभी तो
अपने से भी ज़्यादा
उन्हें प्यार किया !
पहले पहल
शब्दों के महल
मेरे काम भी बहुत आये,
जब कभी धूप सख़्त पड़ी,
या हवा बही तेज़,
या नाराज़ हो गया अंगरेज़,
तो मैंने उनकी ओट ली;
और सख़्त धूप, तेज़ हवा,
नाराज़ अंगरेज़ पर
चोट की !

तब शब्दों को
मेरा बड़ा ख़्याल था,
मैं उनसे कहूँ-भर,
तो उनका यह हाल था
कि अभी शब्द,

अभी महल अभी किले !
अभी बैन,
अभी बान,
अभी बानों के सिलसिले !

आधी रात को इशारा कीजिए,
एक अँगड़ाई ले कर तैयार !
आंधी में, पानी में
चाहे जहा भेज दीजिए !
अजीब दिलचस्पी थी उन्हे
मेरे इशारे में,
जितना चाहिए उतना पानी
डाल कर गारे में
शब्द उसे मचाते थे;
और फिर शब्द
खुद एक-दूसरे को
इशारों पर नचाते थे !
ईंट पर ईंट जुड़ती थी,
शून्य के चेहरे पर
हवाई उड़ती थी,
मज़ाआ जाता था;
जब शब्दों का समवेत-स्वर,
निर्माण का आनन्द
उठ कर गगन तक
छा जाता था !

सचमुच
वे बड़े अच्छे दिन थे !

बरस तब मेरे लेखे
छिन थे !
एक तो ख़बर ही नहीं पड़ती थी
कि कठिनाई आयी थी;
अगर कोई कहे
कि आयी थी,
तो मैं शब्दों से पूछता था :
वे कहते थे
कि हाँ, हमने मँगायी थी !
और फिर वे सब
एक साथ हँस देते थे,
यानी कठिनाइयों के
इस तरह आ कर खड़े हो जाने में
वे रस लेते थे !

मगर जैसे जवानी
सदा नहीं रहती,
बल्कि इससे भी अच्छी उपमा
नदी की धार
सदा बँधी हुई नहीं बहती,
वह चली जाती है
खेतों तक
उन्हें सींचने के लिए,
या जा कर समुद्र में मिल जाती है
ख़ुद को आसमान तक
खींचने के लिए—
मेरे शब्दों का

अब ऐसा कुछ हाल दिख रहा है !
अब मैं उनके महल
बनाऊँ भी तो बनते नहीं हैं,
अब वे मेरे इशारे पर
ऊपर ही ऊपर आसमान में
तनते नहीं हैं !

मैंने देखा है
कि कभी-कभी
एक मीठे विरोध में
वे मेरे ख़िलाफ़ तक खड़े हो गये हैं !
सोचता हूँ
कि मेरे शब्द
अब मुझसे भी बड़े हो गये हैं !!

वे अब सिर्फ़ मेरी नहीं सुनते,
अपनी भी मुझे सुनाते हैं,
यानी
मेरी-अपनी
इस बीस-पच्चीस साल की
पहचान को भुनाते हैं !
कहते हैं अब हमें तुम
अपने ही हक़ में बरतना बंद करो,
हमें तुम दीवारों का नहीं
अब मैदानों का छंद करो !
फैलाओ हमें
जैसे किसान फैलाता है बीजों को !
ठहर कर सोचना पड़ता है मुझे

शब्दों की इन तरहदारियों को
तमीज़ों को !

याने अब मैं और मेरे शब्द
अलग-अलग नहीं हैं
एक हैं !
मैं चाहता हूँ
कि कभी उनकी शर्म न बनूँ
क्योंकि वे मेरी टेक हैं !
मैं उन्हें सिर्फ़ बरतूँ नहीं,
उन्हें जिऊँ—
बात कठिन है
लेकिन करना चाहिए !
शब्दकार को
अगर ज़रूरत पड़े
तो अपने शब्दों पर
मरना चाहिए !!

जो उन्नीस सौ तिरपन में
अपरैल की आठ को,
अपने गीतों में से
कोई सौ-साठ को
मुट्ठी में भर कर बखेर रहा हूँ,
तरह-तरह के बीज वालों को
इस बहाने टेर रहा हूँ,
कि सब आएँ
मैदानों में अपने बीज बखेरें,
और तरह-तरह के बीजों को

मैदान में ऊगने के लिए टेरे !
जाने-अनजाने
संकोच की एक खरोंच
हम पर हावी है,
रुकी है जिसके सबब
वह होनहार
जो अवश्यंभावी है !
हम उसकी मदद नहीं करते
सिर्फ मुँह ताकते हैं,
वह हमको पुकारती है,
हम बगलें झाँकते हैं !
हमारी आँखों में
नींद के तिनके गड़े हैं,
हम उससे बोले बिना
अपने बिस्तरों पर पड़े हैं !
समय के ज्वार पर
हमने नींद को
माना है मल्लाह !
होनहार पुकार कर कह रही है
कि आह,
ऐसे मुर्दों को लहरें ज्वार की
बिना प्यार के
किनारों पर फेंक देती है,
और जागने वाले,
सुनने वाले,
करने वाले के चरणों में
माथा टेक देती है !

मौसम को चुनौती अगर
देते नहीं हैं हम
तो मौसम की हिम्मत
ज़रा ज़्यादा बढ़ जाती है;
सूरज की आँखों से
आँखें मिला कर,
रग-रग में रम गयी
नींद को हिला कर;
जागो ख़्वाबीदा ओ, आंखों के तारे !

किरनों के दाँत
बड़े तीखे और विषैले हैं !
उतने से ज़्यादा फैलो
जितने ये फैले हैं !
देखो, कहलाना मत
आफ़त के मारे !
आफ़त के मारे बड़ी
शर्मनाक बात है !
मौसम क़लम
और दुनिया दावात है !
समय का मुसन्निफ़
तुझे नाम नहीं धर दे !
सूरज की आँखों से आँखें
मिला कर
रग-रग में रम गयी
नींद को हिला कर,
गति को प्रकाश
और मति को
ध्यान कर दे !!

अप्रैल, १९५३

कवि

क़लम अपनी साध,
और मन की बात बिलकुल ठीक कह एकाध ।

ये कि तेरी-भर न हो तो कह,
और बहते बने सादे ढंग से तो बह ।
जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख,
और इसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख ।
चीज़ ऐसी दे कि जिसका स्वाद सिर चढ़ जाए
बीज ऐसा बो कि जिसकी बेल बन बढ़ जाए ।
फल लगें ऐसे कि सुख-रस, सार, और समर्थ
प्राण-संचारी कि शोभा-भर न जिसका अर्थ ।

टेढ़ मत पैदा करे गति तीर की अपना,
पाप को कर लक्ष्य कर दे झूठ को सपना ।
विंध्य, रेवा, फूल, फल बरसात या गरमी,
प्यार प्रिय का, कष्ट-कारा, क्रोध या नरमी,
देश या कि विदेश, मेरा हो कि तेरा हो
हो विशद विस्तार, चाहे एक घेरा हो,
तू जिसे छू दे दिशा कल्याण हो उसकी,
तू जिसे गा दे सदा वरदान हो उसकी ।

जनवरी, १९३०

दो बातें

कौन किसे समझाए, कोई समझ सकेगा समझाने से,
जी के दाग़ दिखाऊँ, कोई देख सकेगा दिखलाने से ?
अपना रोना रोने से क्या, किसे परायी फ़िक्र पड़ी है,
इसे जान कर कोई करे क्या, किसके आगे मौत खड़ी है ?

कब किसकी इच्छाएँ पूरी हो पाती हैं, कोई बताए,
कितने चले गये हसरत ले, कितने हसरत ले कर आए ।
यह सच है अपनी डफली पर, अपना राग सभी गाते हैं,
लेकिन यह तो झूठ कि बाबा, जो देते हैं, सो पाते हैं ।

हमने अपना जी दे डाला, जीवन की परवाह नहीं की
दो मीठी बातों से ज्यादा, हमने कोई चाह नहीं की ।
लाखों ज़ुल्म सहे, सहते ही गये, कभी भी आह नहीं की,
और दूसरों का सुख देखा, सुखी हुए, हाँ, डाह नहीं की ।

इस सब का बदला जो पाया, उस पाने से खोना अच्छा,
इस पाने पर मैं हँसता हूँ, इस हँसने से रोना अच्छा !
वैसे तो मेरे ओठों पर हँसी बहुत कम ही आती है,
जब आती है, तभी अभागिन आ कर मुझे रुला जाती है ।

मेरे आगे वे पहले के दिन आते हैं, आ जाते हैं,
बहुत भूलना जिसे चाहता, उसकी याद दिला जाते हैं ।
जब एकांत मिला आँखों में पानी, यह कैसा जीना है,
कब तक घूँट ख़ून के ले-ले, यह खारा पानी पीना है !

साँझ प्रात आते हैं, लेकिन नहीं सुनहले हो पाते हैं,
नहीं उमड़ता है सुख, वैसे पंछी गाने को गाते हैं ।

एक बार हर साल सुनाई पड़ते हैं कोयल के गाने,
याने फूल खिलाने वाली रितु आती है, मगर जलाने ।

डालें वहाँ लदी रहती हैं, आँखें यहाँ भरी होती हैं,
वहाँ लाल होता है टेसू, यादें यहाँ हरी होती हैं ।
मेरे दुख की दुनिया लम्बी-चौड़ी, कोई पुरा नहीं है,
तुम हँसते हो ? हँस सकते हो; हँसना वैसे बुरा नहीं है ।

यदि मैं भी हँस सकता तुम-सा, सुन कर कभी किसी की बातें,
यदि मेरे भी होते तुम-से सुख के दिन, सोने की रातें !
यदि मेरे भी होता कोई जिसको मैं अपना कह सकता,
और तुम्हारी तरह अगर मैं भी जग को सपना कह सकता !

लेकिन अपना सत्य दुःख, मैंने जग ही से तो पाया है,
मेरा जला कपाल जला है, तो यह जग ही की माया है ।
काँटा-सा खटका करता है जी में, सपना कभी नहीं है,
सपना तो ऐसा होता है, अभी-अभी है, अभी नहीं है ।

फ़रवरी, १९३४

अपराध

नहीं जानता किसकी अलकों के अस्थिर हिलते डोरों में,
नहीं जानता किसकी आँखों के अनन्त-मिलते छोरों में,
नहीं जानता किसकी कोमल अंगुलियों के मृदु पोरों में,
नहीं जानता किसके सुख-दुख पाते-खोते निशि-भोरों में,
मेरे प्राण समा जाने को व्याकुल हो कर आज जगे हैं,
नहीं जानता किसकी आशा-मधु में इसके पंख पगे हैं !

नहीं जानता कौन अचानक उर में आगी लगा गया है,
नहीं जानता कौन युगों के सोते सपने जगा गया है,
नहीं जानता कौन छुनक कर भोलेपन को भगा गया है,
नहीं जानता किसके जादू में, भोला जी ठगा गया है;
किसके आने की आशा में आते-जातों की आहट सुन,
दरवाज़े तक खिंचा चला जाता हूँ, खींच रहे किसके गुन !

किस अभाव में संध्या सूनी हुई, उषा पीली दिखती है,
किस अभाव में यह विशालता पिंजरे की तीली दिखती है,
इसे चीर कर वहाँ क्षितिज पर एक कोर नीली दिखती है,
जी की व्याकुल आँख वहाँ ही जाने को गीली दिखती है;
नहीं जानता, पायी मैंने पागलपन की साध कहाँ से,
नहीं जानता मेरे पल्ले आया यह अपराध कहाँ से !

जून, १९३४

कवि

लोग मुझे पागल कहते हैं, मैं पागल ही कहलाता हूँ;
जीवन की सूनी घड़ियों से सूना जीवन बहलाता हूँ।
चलती है अँगुली, लिखती है, लिख कर फिर बढ़-बढ़ जाती है;
काग़ज़ पर जो बूँद उतरती है सिर पर चढ़, चढ़ जाती है!

ओ मतवाली दुनिया, मेरा पागलपन तू क्या पहचाने,
कितने गीत बिखर जाते हैं मेरी झोली से अनजाने!
सरिता की गति में, कोयल की कूहू में, तरु के मर्मर में,
मधुपों के गुन्-गुन् गीतों में, झरनों के झर् झर् झर् स्वर में;
गिरि की गहन कंदराओं में ये बसते हैं बन कर झाईं,
जड़ में, चेतन में पड़ती है मेरे गीतों की परछाईं!

मेरे यहाँ रहन रक्खी है युगों-युगों से युग की वाणी,
मेरे गीतों में बसती है सत्य-सुंदरी, माँ कल्याणी!

अक्तूबर, १९३४

क़िस्मत !

फूल कोमल, स्वच्छ तारा और पानीदार मोती,
ओस चंचल, अचल पाहन, हैं तुम्हारे सभी गोती;
सभी ने तुमसे लिया कुछ या सभी ने कुछ दिया है,
किन्तु क्या तुमने अनादर कभी इनका भी किया है ?

चूक मेरी ही बड़ी क्यों यदि तुम्हें जी दे दिया है,
और इतना बुरा क्या है, दर्द यदि तुमसे लिया है;
यदि उपेक्षा ही रही होती न थी मुझको बुराई,
जानते ही तुम नहीं रहती यही मुझको समाई ।

किन्तु तुम पहचानते भी हो मुझे यह जानता हूँ,
और तिस पर खिंच रहे उतने कि जितना तानता हूँ;
स्नेह के नाते सभी, तुम तोड़ते ही जा रहे हो,
और जी में गाँठ दिन-दिन जोड़ते ही जा रहे हो !

फूल को तुमने कभी चूमा, कभी छाती लगाया,
और तारों ने कभी तो रात-भर तुमको जगाया,
ओस है बहलाव मन का और है श्रृंगार मोती,
हाय इनकी और मेरी कहीं क़िस्मत एक होती !

मार्च, १९३५

पहली बातें

अब क्या होगा इसे सोच कर जी भारी करने में क्या है,
जब वे चले गये हैं ओ मन, तब आँखें भरने में क्या है,
जो होना था हुआ, अन्यथा करना सहज नहीं हो सकता,
पहली बातें नहीं रहीं, तब रो-रो कर मरने में क्या है ?

सूरज चला गया यदि बादल लाल-लाल होते हैं तो क्या,
लायी रात अँधेरा, किरनें यदि तारे बोते हैं तो क्या,
वृक्ष उखाड़ चुकी है आँधी, ये घनश्याम जलद अब जाएँ,
मानी ने मुँह फेर लिया है, हम पानी खोते हैं तो क्या ?

उसे मान प्यारा है, मेरा स्नेह मुझे प्यारा लगता है,
माना मैंने, उस बिन मुझको जग सूना सारा लगता है,
उसे मनाऊँ कैसे, क्यों कर, प्रेम मनाने क्यों जाएगा,
उसे मनाने में तो मेरा प्रेम मुझे हारा लगता है।

अगस्त, १९३५

जीवन का सौदा

क़िस्मत के लिक्खे का क्या हो ? मेरी क़िस्मत में रोना था,
क़िस्मत की बात कौन जाने, यह होनी थी, यह होना था ।
वह साँझ नहीं थी, इतनी अच्छी साँझ नहीं होती आली,
हर एक झाड़ सोने का था, हर एक बूँद मोती आली ।

हर एक हवा के झोंके में, इतनी ख़ुशबू, इतनी मस्ती,
अगर ज़िन्दगी दाम मँगो, तो फिर भी जान पड़े सस्ती ।
सूरज की किरनें लहरों से खिलवाड़ किए जाती थीं कुछ,
और मस्तानी-सी छोकरियाँ, मिल आड़ किए जाती थीं कुछ ।

कुछ गौले बंसी बजा रहे-से लौट रहे थे मस्ताने,
कुछ गायें पूँछ उठा कर अपनी नाच रही थीं बेजाने ।
चिड़ियों की चहक निराली थी, मैं कैसे कह दूँ चहक उसे ?
फूलों की महक, महक आली, मैं कैसे कह दूँ महक उसे ?

उस दिन की पनिहारिन टोली, भर रही नहीं जैसे पानी,
हर एक बात मीठी उनकी, कर रही नहीं किसको पानी ?
बादल के टुकड़े एक तरफ़ कुछ घने-घने-से, छाये-से,
दुनिया को अपना कर लेंगे, यह बात सोच कर आये-से ।

छोटा-सा बरसाती नाला, कुछ घहर, छहर, बहता-बहता,
इस बार सँभल कर गिर पड़ता, गिर कर, उठ कर चोटें सहता ।
अपने बहने की सीमा को, हर बार बढ़ाने की धुन में,
पारों की मिट्टी गिरा-गिरा, धँसता-सा जाता था उनमें ।

वह हरी पहाड़ी, भरी हुई आँखों से सुधबुध-सी खो कर,
हर तरफ़ निखरती शोभा को, थी निरख रही खुद ही बो कर ।

मैं नहीं जानती क्यों उस दिन, हर डाल शराबी बन झूमी !
मैं नहीं जानती क्यों उस दिन, आली मैं पागल बन घूमी।

क्यों उस दिन कोयल को सुन कर, मैं बैठ नहीं पायी आली;
क्यों उस दिन लोग-कहेंगे-क्या की बात न मन भायी आली !
क्यों उस दिन जीवन का सौदा करने की धुन लग गयी सखी,
क्यों उस दिन सारी लाज छोड़ कर मुझे कहीं भग गयी सखी !

मैंने मस्ती के आलम में तब जी की बात नहीं जानी,
मैं भरे जाम-सी छलक पड़ी, तब मैंने रात नहीं जानी।
मैं निकल पड़ी सौदा करने, जीवन का सौदा किया, सखी,
जी दे कर रोना मोल लिया, सुख ले कर दुख दे दिया सखी !

अगस्त, १९३५

कोकिल

स्वरों पर साधे-हुए-सा हृदय का मधु-भार आली,
तार पर बोते हुए बीते हुए का प्यार आली,
जीत लूँगी मैं किसी भी वज्र को, ऐसा समझ कर,
राग में लय बन, बहा उर
हार ही लेने चलीं क्या ?

रश्मि-तारों पर तने-से गगन तक अलि, गीत तेरे
वायु के तनु पंख पर चढ़, फैल, छा, ये मीत तेरे
चकित हो कर ढूँढ़ते-से, थकित हो कर ठहर जाते,
काँप जाते सिहर जाते,
भूल बैठे हैं गली क्या ?

कौन-से नवदूत ने किस यक्ष से संकेत पा कर,
प्यार का संदेश तुझको सात सागर पार जा कर,
उड़ चलो कह कर दिया, तुम उड़ चलीं, तुम यक्षिणी हो,
तुम न केवल पक्षिणी हो !

छद्म हमसे किसलिए या ठीक है, यह ठीक ही है,
हम मर्त्य हैं, तुम अमर हो, यह तो सदा की लीक ही है,
अमरांगने, यह ठीक है पर, प्रेम हम पहचानते हैं,
प्रेम को हम जानते हैं !

फूल तू छूती नहीं है और फल खाती नहीं है,
किंतु ऐसा कौन-सा सुख है कि तू पाती नहीं है,
और सारे पंछियों से भिन्न है, बेमेल है तू,
बालकों-सा खेल है तू !

नियम तेरे नहीं हैं, तू एक उच्छृंखल कहानी,
अभी-कू-हू, फिर अभी चुप, अभी पागल, अब सयानी,
एक रँग तू और तेरे कार्य नित्य-नवीन-से हैं,
नियम के छवि-छीन-से हैं।

आज तेरा स्वर सुना, सब नियम अनियम हो गया है,
आज दुर्लभ सुलभ जैसे, आज परिचित भी नया है,
आज नवपरिचय मिला अपरूप में सौंदर्य पाया,
आज मुझमें आप आया।

कु-हू बोलो, आज उत्सव है कि सब संकोच-बिन है,
आज यह प्रतिदिन नहीं है आज तो यह एक दिन है,
कु-हू बोलो आज श्यामे, आज तो संगीत हो ले,
एक दिन की जीत हो ले !

आज संसृति की पुरानी सावधानी दूर हो ले,
आज जीवन नदी की यह नित्य कल-कल पूर हो ले,
मैं उमड़ कर बह चलूँ मुझसे किनारा छूट जाए,
पाल जब खुल ही गया है, क्यों न लंगर टूट जाए !

सोचते ही हम यहाँ पर सोच से भर जाएँ आली,
और यदि सोचें अधिक तो सोच से मर जाएँ आली;
प्रेम का मतलब विरह वरदान ही अभिशाप श्यामे,
तेज हमको ताप श्यामे !

जो हमारा ओषधीनायक, वही सकलंक है री,
और मानस के कमल का नित्य भूषण पंक है री,
यह हमारा भाग्य है, ऐसा हमारा अमिट लेखा,
यहाँ किसने हर्ष देखा !

शोक से या सावधानी से नहीं पहचान तेरी,
क्या कभी भी दुख-भरी घड़ियाँ रहीं मेहमान तेरी,
तू सदा फागुन सरीखे हर्ष-मय की सहेली है,
हमें यह सब पहेली है !

तुम मुझे दिखतीं नहीं, कू-हू मगर सुन पा रहा हूँ,
वहीं रहना परभृते, मैं भी वहीं पर आ रहा हूँ,
आकाशवाणी-सा तुम्हारा गीत जग में भर गया है,
मुझे पागल कर गया है ।

फ़रवरी, १९३५

वे हँसे और आया वसन्त

वे हँसे और आया वसन्त, खिल गये फूल, लद गयी डाल,
भौंरों ने गाना शुरू किया, पत्ते हिल कर दे चले ताल।
हर फूल नयी पोशाक पहिन, जग के आँगन में झूम गया,
हर भौंरा मस्ती में भर कर, हर नये फूल को चूम गया।

खेतों में सरसों फूल उठी, जंगल में टेसू हुआ लाल,
जो हवा अभी तक चंचल थी, उसकी धीमी हो गयी चाल।
अब तक की सूनी अमराई में उतर पड़ी जैसे बरात,
बँध गया मौर, हो गया और, उस बड़े आम का पीत गात।

किरनों का सोना निखर गया, लहरों पर चढ़ा नया पानी,
जी कुछ ऐसा बेहाल हुआ, आँखों का उतर गया पानी।
तब बार-बार कुहकी काली, आली अमराई गूँज गयी,
क्या जाने जादू हुआ कौन ? सारी दुनियाँ हो गयी नयी।

फूलों का मतलब बदल गया, जी में जैसे गड़ गये शूल,
मैं बेसुध थी, बेजाने ही मेरे सिर से खिसका दुकूल।
वे हँसे, और बिस-भरी हँसी में मैंने दी मुसकान मिला;
वे मिले मुझे, तू बता सखी, यह शाप, या कि वरदान मिला।

फ़रवरी, १९३५

राज-पथ

मैं एक राजपथ हूँ महान् ।
वैसे मुझको कुछ काम नहीं, पर पल-भर को विश्वास नहीं,
मेरी निश्चेष्ट बड़ी छाती पर, जैसे कहीं विराम नहीं ।
मेरे जीवन में राग नहीं, मुझमें कोई अनुराग नहीं,
मै हरी घास भी उगा सकूँ, ऐसे भी मेरे भाग नहीं ।

मैं गूँगा हूँ, कब बोल सका, मैं स्तब्ध रहा कब डोल सका
मेरे अभाग ! मैं अन्धा हूँ, कब अपनी आँखें खोल सका !
पद-शब्द किन्तु सुनता हूँ मैं, उन शब्दों को गुनता हूँ मैं,
मैं अनुभव कब करने पाया, क्यों व्यर्थ शब्द चुनता हूँ मैं ?

मेरा-सा कोई वक्ष नहीं, मेरा कोई समकक्ष नहीं,
इतना सब, किन्तु अभागा हूँ, मैं बन्धुहीन, मैं लक्ष्य नहीं ।
मुझ पर सब ही चलते तो हैं, सब ही मुझको दलते तो हैं,
सब आते और चले जाते, वे सब मुझको छलते तो हैं ।

दो कोमल चरण लजीले-से, हल्के-से और सजीले-से,
नूपुर पहने मुझ पर चलते, रुन-झुन-झुन-झुनुक बजीले-से,
मुझ पर से हो कर जाते थे, सच कहूँ मुझे वे भाते थे ।
आता था कोई एक और, वे दोनों हँसते-गाते थे ।

वह दूर आम का पेड़ लगा, उनसे था उसका भाग जगा,
वे दोनों वहीं ठहरते थे, वह जैसे उनका रहा सगा ।
कितने ही दिन तक यही हुआ, फिर जो होना था वही हुआ,
यह और अगर होता रहता, क्यों अधिक दिनों तक नहीं हुआ ?

उस दिन फागुन की रँगी साँझ, जैसे रो कर हो गयी बाँझ,
वह आयी, किन्तु अकेली थी, दूरी पर बजती रही झाँझ !
वह बड़ी देर तक खड़ी रही, दूरी पर आँखें जड़ी रही,
वह 'कोई' किन्तु नहीं आया, सूनी की सूनी घड़ी रही ।

वह और दूसरे दिन आयी, पर फिर भी उसके बिन आयी,
उस दिन वह बहुत बिकी-सी थी, क़िस्मत के हाथों छिन आयी ।
वह लौट चली धीरे-धीरे, अपनी आहों से नभ चीरे,
वह अधिक नहीं चलने पायी, वह मुझ पर बैठ गयी हीरे !

हाथों से आँखें बन्द किए, आहों में करुणा-छन्द लिए,
वह रो कर मुझ पर लोट गयी, मैंने लोहू के घूँट पिये ।
बेटी को धीरज दे न सका, उनकी नैया मैं खे न सका,
उसके वे कँपते हुए हाथ, मैं अपने हाथों ले न सका ।

कितनी तीखी पड़ रही धूप, मैं मार्ग, किसी का हो न सका,
मैं घर बन कर रह नहीं सका, मैं ताप किसी का खो न सका !
यह तपी धूल उड़ती जाती, कुछ सूखे पत्ते लिये हुए,
मैं मार्ग, शोक भी रख न सका, पत्थर की छाती दिये हुए ।

मैं वर्त्तमान, क्यों भूतकाल के पदचिह्नों को रख पाऊँ ?
मैं वर्त्तमान, क्यों कर भविष्य की राह किसी को बतलाऊँ ?

राह के हँसना-रोना नहीं, यहाँ पर उड़ती रहती धूल,
यहाँ काँटे भी पड़ते हैं, अगर बिछते हैं जब-तब फूल ।

अक्तूबर, १९३५

बाहिर की होली

आज मैं अपने घर से अलग, आज मैं अपने घर से दूर,
और फिर मेरे चारों ओर, हर्ष की धूम, हर्ष का पूर।
किसी ने हँसते-हँसते कहीं, किसी पर पिचकारी मारी,
किसी आँगन से स्वर आया—"बस करो, जीते, मैं हारी।"
और फिर पिचकारी का छर्र्र, और फिर हँसी सुनाई पड़ी,
"अभी कैसे ? सँभालो फिर से" और फिर पिचकारी की झड़ी।

अरे फागुन के रँगे दिवस, सभी के आँगन रंग से लाल,
किराये का मेरा आँगन, निपट अनुरागहीन, बेहाल।
वहाँ मेरे आँगन में खड़ी एक बिल्ली टेसू से रँगी,
कहीं से उड़ती हुई गुलाल हाथ पर मेरे आ कर लगी।
आज भी मेरी छोटी नदी उमड़ कर बहती होगी वहाँ,
और वह कल-कल करती हुई कथा-सी कहती होगी वहाँ।

वहाँ उस चौराहे के पास आज होली जलती होगी,
आज भी वह पहले की तरह धधकते ही बलती होगी।
आज माँ ने की होगी याद, बनाये होंगे जब पकवान,
पिताजी का था मुझ पर मोह—उन्हें जब आया होगा ध्यान,
कहा होगा, "मँझले के बिना आज सूना-सा लगता है।"
इन्हीं सब बातों से मुझको दुःख दूना-सा लगता है।

आज हैं उज्ज्वल मेरे वस्त्र, रंग मेरे हिस्से में नहीं;
आज से बढ़ कर उज्ज्वल घड़ी कहीं मेरे क़िस्से में नहीं !
धूप तपती है चारों ओर, और मैं धूप तापता हूँ;
आप खेलें, होली खेलें, ज़रा मैं दुःख मापता हूँ।
भरी आँखों, रीते दिल से, देख लूँ यह रँगरोली और;
ज़िन्दगी हो लेगी पूरी—एक-दो ऐसी होली और !

मार्च, १९३६

सन्नाटा

तो पहले अपना नाम बता दूँ तुमको,
फिर चुपके-चुपके धाम बता दूँ तुमको;
तुम चौंक नहीं पड़ना, यदि धीमे-धीमे
मैं अपना कोई काम बता दूँ तुमको।

कुछ लोग भ्रांतिवश मुझे शांति कहते हैं,
निस्तब्ध बताते हैं, कुछ चुप रहते हैं;
मैं शांत नहीं निस्तब्ध नहीं, फिर क्या हूँ,
मैं मौन नहीं हूँ, मुझमें स्वर बहते हैं।

कभी-कभी कुछ मुझमें चल जाता है,
कभी-कभी कुछ मुझमें जल जाता है;
जो चलता है, वह शायद है मेंढ़क हो,
वह जुगनू है, जो तुमको छल जाता है।

मैं सन्नाटा हूँ, फिर भी बोल रहा हूँ,
मैं शांत बहुत हूँ, फिर भी डोल रहा हूँ;
यह 'सर्-सर्' यह 'खड़-खड़' सब मेरी है,
है यह रहस्य मैं इसको खोल रहा हूँ।

मैं सूने में रहता हूँ, ऐसा सूना,
जहाँ घास उगा रहता है ऊना;
और झाड़ कुछ इमली के, पीपल के,
अंधकार जिनसे होता है दूना।

तुम देख रहे हो मुझको, जहाँ खड़ा हूँ,
तुम देख रहे हो मुझको जहाँ पड़ा हूँ,

मैं ऐसे ही खँडहर चुनता फिरता हूँ,
मैं ऐसी ही जगहों में पला, बढ़ा हूँ।

हाँ, यहाँ क़िले की दीवारों के ऊपर,
नीचे तलघर में या समतल पर भू पर
कुछ जन-श्रुतियों का पहरा यहाँ लगा है,
जो मुझे भयानक कर देती हैं छू कर।

तुम डरो नहीं, डर वैसे कहाँ नहीं है,
पर ख़ास बात डर की कुछ यहाँ नहीं है;
बस एक बात है, वह केवल ऐसी है,
कुछ लोग यहाँ थे, अब वे यहाँ नहीं हैं।

यहाँ बहुत दिन हुए एक थी रानी,
इतिहास बताता उसकी नहीं कहानी;
वह किसी एक पागल पर जान दिये थी,
थी उसकी केवल एक यही नादानी!

यह घाट नदी का, अब जो टूट गया है,
यह घाट नदी का, अब जो फूट गया है—
वह यहाँ बैठ कर रोज़-रोज़ गाता था,
अब यहाँ बैठना उसका छूट गया है।

शाम हुए रानी खिड़की पर आती,
थी पागल के गीतों को वह दुहराती;
तब पागल आता और बजाता बंसी,
रानी उसकी बंसी पर छुप कर गाती।

किसी एक दिन राजा ने यह देखा,
खिंच गयी हृदय पर उसके दुख की रेखा;
वह भरा क्रोध में आया और रानी से,
उसने माँगा इन सब साँझों का लेखा।

रानी बोली पागल को ज़रा बुला दो,
मैं पागल हूँ, राजा, तुम मुझे भुला दो;
मैं बहुत दिनों से जाग रही हूँ राजा,
बंसी बजवा कर मुझको ज़रा सुला दो।

वह राजा था हाँ, कोई खेल नहीं था,
ऐसे ज़वाब से उसका मेल नहीं था;
रानी ऐसे बोली थी, जैसे उसके
इस बड़े क़िले में कोई जेल नहीं था।

तुम जहाँ खड़े हो, यहीं कभी सूली थी,
रानी की कोमल देह यहीं झूली थी;
हाँ, पागल की भी यहीं, यहीं रानी की,
राजा हँस कर बोला, रानी भूली थी।

किंतु नहीं फिर राजा ने सुख जाना,
हर जगह गूँजता था पागल का गाना;
बीच-बीच में, राजा तुम भूले थे,
रानी का हँस कर सुन पड़ता था ताना।

तब और बरस बीते, राजा भी बीते,
रह गये क़िले के कमरे-कमरे रीते;

तब मैं आया, कुछ मेरे साथी आये,
अब हम सब मिल कर करते हैं मनचीते।

पर कभी-कभी जब पागल आ जाता है,
लाता है रानी को, या गा जाता है;
तब मेरे उल्लू, साँप और गिरगट पर
अनजान एक सकता-सा छा जाता है।

सितंबर, १९३६

फूल और दिन

सुबह होते ही फूल,
हवा में झूल,
खोल देता है अपने दल
ओस पी लेता है केवल—
पियासा रवि;
फैल जाती है छवि ।

शाम को, दिन के साथ,
झुका कर माथ,
फूल रह जाता है चुपचाप,
हृदय पर रख कर दिन की छाप ।
निराला दिन,
चला जाता उस-बिन ।

और तब आधी रात,
उसे वह बात—
स्वप्न में दिखती है, वह फूल
सभी कुछ जाता है तब भूल ।
हृदय जिसका कोमल,
बिखर जाते हैं उसके दल ।

सितंबर, १९३६

अनुभव

कुछ कहा नहीं मैंने उससे, विश्वासघात था ज्ञात मुझे,
जब प्यार नहीं जाना उसने, तब दुःख नहीं कुछ बात मुझे।
वह बोला, चलते समय, 'हमारा दूर-दूर रहना अच्छा',
है मुझे याद तब शान्त भाव से मेरा वह कहना 'अच्छा'।

रे प्रयत्न मानव के! लेकिन हुआ कि वह सब बीत चुका,
तब से मैं कितने लम्बे दिन, हाँ माह, बरस, सब जीत चुका।
मैं नहीं सोचता कैसे अच्छे दिन मेरे होते, याने—
मैं इन सब का स्वागत करता हूँ; बिना हँसे, छाती ताने।

पर बहुत बार उन रातों में, जब कोई मेरे पास नहीं,
उन लम्बी-लम्बी रातों में, जब निद्रा का आभास नहीं—
मैं काँप रहा होता हूँ, पर डर किसका है कुछ ज्ञात नहीं,
मैं दिल को ऐसे छूता हूँ, जैसे वह मेरा गात नहीं।

कितना अधीर हो जाता हूँ—सूरज की छाया देख सकूँ,
अथवा देने को मुझे चाय, नौकर को आया देख सकूँ!
रे सुन पाऊँ कुकुट का स्वर, रे हवा सुबह की चल जाए,
यह मेरा जगता स्वप्न, सूर्य की किरनें छू कर जल जाए!

मैं उठ कर बाहिर टहल सकूँ, मैं समझ सकूँ मैं जीता हूँ,
मैं झाड़ों से जीवन ले लूँ, मैं अभी मरा हूँ, रीता हूँ।
फिर कभी-कभी रो भी न सकूँ, हाँ, आह नहीं करते बनती,
निस्तब्ध एकदम रह जाता हूँ, चाह नहीं करते बनती।

कुछ लोगों ने मुझको ऐसी हालत में देख लिया भी है,
उन सबने मुझसे यही कहा, "तुमने कुछ आज पिया भी है ?"
"आखिर तुम ताक रहे हो क्या ? क्यों दिखते हो तुम नये-नये ?"
"पहले तुम ऐसे नहीं रहे—भैया तुम कितने बदल गये !"

आह, मौत यदि आ जाती, यदि जीवित हूँ, तो भूल सकूँ,
यदि तोड़ नहीं लेता कोई, तो किरनें छू कर फूल सकूँ !

सितंबर, १९३६

नर्मदा के चित्र

नष्ट नहीं सौंदर्य कभी उनके लेखें,
जिनके प्राणों में एक सदृश-श्री-शक्ति है,
वैसे ही जैसे गुलाब का महकता
जीवन जीवित है बिखरे-भी दलों में।
नष्ट हुई चीज़ों के ऊपर एक कुछ
है प्रकाश ऐसा ही, जो जाता नहीं;
धुँधला है इतने प्रकाश की झलक है,
जितनी भरने और बहने के बीच में
देखी जाती है दुखिया की आँख में!
भिन्न-भिन्न मिस हैं जिनसे निज रूप को
सुंदरता विकसित करती है सर्वदा,
पुष्प स्वयं मुरझा जाता है डाल पर
किंतु कली भी खिल कर हँसती है तभी।
और कि जब इस फैल रही प्रिय धरा से
सिमट रहीं अस्तंगत किरनें सूर्य की,
यह भी तो है एक सरल संकेत उन दीप्त दिनों का,
जो अबाध्य आशा में आते दिख रहे।

बँधे हुए घाटों से थोड़ी दूर पर
हरी घास के उस उतार पर बैठना,
चमक रहा था, जो ऊपर के सूर्य से
और कि जिस पर थी पीपल ने छाँह की!
कितना प्यारा था कुछ अस्फुट स्वरों में
गुन-गुन करके वहीं लेट जाना कभी;

एक-दूसरे पर चढ़ती-सी चोटियाँ
कभी देखना विन्ध्याचल की दूर तक।
टेढ़ी-मेढ़ी रेवा थोड़ा छोड़ कर
फिर दिखती, आँखों को देती स्वास्थ्य-सा;
और वृक्ष अपने यौवन के बोझ से
झुके-ढँके, हरियाले पत्तों से सघन!
दूर गाँव के छोटे-छोटे घर खड़े
और पास में टूटा-फूटा क़िला है,
(सुनते हैं यह किसी गोंड-नृप की प्रभा,
आज सदा की भाँति नग्न है धूप में!)
कभी देखना अपलक काले मेघ को--
जो हाथी था अभी, अभी उड़ने लगा
पर फैलाए हुए हंस का रूप ले!
बहुत सुखद था वह सब, तब का लेटना,
और कि गुन गाना रे उस अवकाश का!

वायु प्रात की भीनी-भीनी बह रही,
धीरे-धीरे नाव लहर पर तिर चली,
पागल है यह समय और लहरें प्रबल।
हम गुलजारीघाट छोड़ पीछे चले,
वह गुलजारीघाट कि जो छुप-सा रहा
आधा घन-कुहरे में, आधा रूप में!
आज नर्मदा मेरी है! लो, और भी—
सूर्य पहिन केसरिया बढ़ता आ रहा;
उष्ण किये देता है सब वातावरण।
यह सफ़ेद घूँघट कुहरे का उठा कर

देख रही हैं शस्य-श्यामला भूमि को
स्निग्ध प्रेम की दृष्टि डाल कर दिशाएँ !
क्रौंच उड़ रहे ऊपर, आगे पहाड़ी,
बाज़ू में हरियाली झाड़ी है सघन,
यहाँ नदी कुछ चौड़ी होती जा रही,
ताल दे रही हैं लहरें चुपचाप ही
और किलकिला उड़ते-उड़ते गा रहा !
दिन चढ़ आया, शब्द बढ़ा, जग जग गया,
इतना अच्छा दिन निकला था क्या कभी !
पंछी-दल गाते हैं, हम चिल्ला रहे,
फूल खिल रहे हैं, हँसती है हर किरन,
और वृक्ष सारे के सारे हिल उठे,
एक ख़ुशी के झोंके का यह काम है !

आह, शिशिर की हवा, कि है ठंडी बहुत,
ऊपर हो कर चली आ रही लहर के;
वन्य देश का यह पथरीला भाग भी,
काँप उठा है इस चुभती-सी ठंड से;
सिस्-सिस् करता-सा प्रलाप है कर रहा।
बर्फ़ीले पानी को जो थी छू रही
ऐसी हर एक खोह गूँजती है खड़ी,
पड़ कर फेंकी हुई लहर की बाढ़ में।
बहुत साफ़ सुन पड़ती झाँई दूर की,
निकल रहे दिन की या बढ़ते भानु की !
धुँधले-धुँधले मेघ कहीं उड़ने लगे,
गरम और ठंडेपन के आभास से

चित्रित करने लगे स्वच्छ आकाश को।
पद-चिह्न-शून्य है, ओस नहीं टूटी तनिक,
हरियाली जैसी की तैसी बिछी है,
धूप चमकती है उस पर, जो और भी
याद दिलाती है यह ठंडी है बहुत !
पगडंडी टेढ़ी हो कर भी हृदय में वन के–
सीधा तीर बनी धँसती दिखी !
उसके ऊपर बही जा रही यह हवा––
बंद नहीं होगी यह डाकिन बहेगी !

कल संध्या में घाट बहुत निस्तब्ध था,
यद्यपि थे कुछ लोग वहाँ, पर थे नहीं;
ज़ोर-ज़ोर से बात नहीं थी हो रही,
सुनी नहीं जाती थी थोड़ी भी हँसी।
सभी सीढ़ियों पर, बुर्जों पर मौन थे,
देख रहे थे पानी या आकाश को;
कभी-कभी मछली ऊपर थी उछलती,
और एक हल्का 'छप' होता था कभी,
फिर वैसा ही शांत और निस्तब्ध सब !
कभी-कभी एकाध लहर भी छपक कर,
मौन भंग करने की चेष्टा कर रही,
किंतु मौन इससे गहरा होता रहा।
और दूज का चाँद तभी मुझको दिखा,
साथ-साथ हल्का-पूरा वह चक्र भी
दिख पड़ता था, जो पूनों में पूर्ण था;
आज सूक्ष्मतम एक सुनहली रेख वह !

था आकाश निरभ्र वायु भी मंद थी;
नीला पानी नील गगन-सा शांत था,
पानी पर प्रतिबिंब चाँद का तब पड़ा,
और मुझे सचमुच ऐसा ही लगा तब,
इसके पहले बिम्ब पड़ा जैसे नहीं
या कि दूज का चाँद नहीं निकला कभी;
निकल रहा था वह मंदिर के पार्श्व से
या कि कलश पर मंदिर के वह टँगा था !
अंधकार अब और सघन होता चला,
और चंद्र भी लगा चमकने चाँद-सा !

दुर्लभ है सुन्दरता ऐसे ह्रास की
जो तिल-तिल कर हुआ, बहुत क्रमशः हुआ।
यौवन और सौन्दर्य जहाँ यह बात हो,
वहाँ सभी कुछ चाहा जाता है कि हाँ,
वहाँ तनिक-से शांति नहीं मिलती कभी
वहाँ माँग का अंत नहीं देखा गया।
किंतु बात जो बीत गयी उसका सभी,
माँगा जा सकता, तो भी क्या माँगते
इसमें है संदेह सदा मुझको रहा।
बीत गये का जादू-भर जगता सदा,
वह प्रकाश-भर बस जाता है वायु में
जो प्रभाव वह जब था तब डाला किया।
उस समग्र का रूप सघन हो कर हमें,
एक प्रेरणा, एक भाव में बाँध कर
जाग्रत करने का प्रयत्न करता कभी,

कभी चित्र की शांति, चित्र का मौन दे
उठते तूफ़ानों को मन पर खींचता।
स्मृति ही केवल उसका आधार है,
स्मृति ही है केवल जीती-जागती—
इस सूने उजड़े खँडहर के बीच में,
और काल्पनिक-रचना के उस भूत-सी
कभी भटकती है झाऊ से भरे इस
रेतीले मैदान या कि उस खेत में !
कभी नर्मदा की लहरों पर नाचती,
कभी क़िले के भग्न भाग में घूमती—
(ख़ुद भी इतनी जीर्ण कि जितना क़िला है,)
थक जाती है, किंतु चैन लेती नहीं।
और कि जब इस नवनिर्मित स्तंभ के,
जो कि डगमगाती यादों का केंद्र था,
एक-एक करके ठोकर से काल की
गिर पड़ते हैं पत्थर, तब कंकाल वह
आतप में जलता, कठोर अभिमान में
तना खड़ा रहता है, दोनों ओर से
हरी बेल ख़ुश हो कर, छा लेती उसे।

अक्तूबर, १९३६

सिर उठा रहे सरसों के पीले फूल

सिर उठा रहे सरसों के पीले फूल,
हरे कोमल पत्तों के बीच आज
कर हिला रहे अपना-पन सारा भूल,
आम के मौर निराला सजा साज ।

वह कू हू कू कोयल बोली, मत बोल,
कि री आकाश स्वच्छ नीला-नीला
वह फुदकी छोटी-सी चिड़िया, मत डोल—
कि निकला आह, चाँद पीला-पीला !

यह सभी आज मुझको फागुन की बात
बताते आये हैं, जो चला गया
यह सभी आज तुम चले गये जिस रात—
बताते आये हैं, मैं छला गया !

हमारे आँगन के पीपल और उस हरी बेल के पात
चाँद की किरनों से चमके, पुरानी ही-सी है यह बात,
एक अन्तर भी तो है किन्तु—आह यह अन्तर कैसा है
कि जिसने सब कुछ बदल दिया, कि अब क्या पहले जैसा है ?

निडर हो कर सीढ़ी के पास गिलहरी खेल रही है खेल
और वह कुतर रही आ कर कि तुमने जो बोयी थी बेल,
उसे जो डरा सके, इस साल नहीं वह नूपुर की झंकार
आह, सब कितना नीरव है, आह सब कितना हाहाकार !

जनवरी, १९३७

लेखनी से

तू मेरी है, मैं तेरा हूँ, हाँ मेरी लाज रखे जाना,
मैं आगी रखता हूँ अपनी, तू अपनी गाज रखे जाना।
तू बूँद-बूँद का लेखा रख, मैं शत-शत जलधि बहा दूँगा,
तू काग़ज़ पर जमती-भर जा, मैं कितने दुर्ग ढहा दूँगा !

तू विन्ध्या के हरियालेपन की साध लिए, स्याही पी ले,
तू इतना दे जाना जग को जो सदा सुहासिन बन जी ले।
तू चलती जा, जग रुक देखे, मैं अपनापन भूले जाऊँ,
ओ क़लम, कि तू हो हरी-भरी, मैं युग-युग तक फूले जाऊँ !

मेरी इच्छा है, दो जीभों वाली, तू अपना रूप दिखा,
हर अत्याचार सूख जाए छू कर तेरा विष-भरा लिखा !
तेरी ज्वाला में पड़ते ही हर स्वेच्छाचार झुलस जाए,
तेरी करुणा का बूँद पड़े, हर पत्थर में पानी आए।

मैं तुझे उठाते ही यदि ऊँचा उठ कर बोल सकूँ, तब है;
मैं तुझे हिलाते ही यदि तुझमें निज को घोल सकूँ, तब है।
तेरा-मेरा अस्तित्व अलग होते भी एक रहे रानी !
जग उसी ओर मेरी गति समझे, तू जिस ओर बहे रानी !

मेरे अन्तर की ज्वाला को, जग तेरी बूँदों में पाए,
तू उसको काग़ज़ पर उतार, जो मेरे जी पर चढ़ जाए।
मैं कृषकों का बोल बनूँ प्रेयसि, तू उनकी वाणी बन,
मैं सत्य रहूँ, तू सुन्दर हो; मैं शिव, तू माँ कल्याणी बन।

फ़रवरी, १९३७

हम दो थे

हम दो थे,
वर्षा का दिन था; संध्या सुहाग की लाली-सी
छा गयी प्रतीची के ललाट, घन केश बने।
विद्युत-वनिता अत्यंत व्यस्त गृहिणी-सी, सारे ही नभ में—
द्रुत गति से जैसे आ-जा कर,
प्रतिपल इंगित-आदेश दिए जाती थी मौन दिशाओं को।
आषाढ-मेघ घन अंधकार में ताने थे अपना वितान,
वह दिन समृद्ध, लघु थे सब दुख, उस दिन सब मानव थे महान्।

तब वृष्टि हुई;
वातायन से झंझा-झकोर भीतर आया,
लाया जलकण नव-वर्षा के; छू गयी बूँद मेरा शरीर,
मुँद गयी आँख, मैं सिहर उठा सुन कर सुदूर में एक तान;
वह था किसान, जिसने अपने छोटे-से धरती के टुकड़े को
किया सुनहला, लगा धान;
उसकी अटपट-सी भाषा में उल्लास मयूरों का उमड़ा,
घनगर्जन था उसका विवाह; वर्षा थी उसको पुत्र जन्म।

हम दो थे,
तान विलीन हुई, देखा दोनों ने एक साथ
घन अंधकार के पार, और फिर एक दूसरे को सतृष्ण
दोनों की आँखों में उछाह, दोनों के प्राणों में प्रवाह,
दोनों के रोमांचित शरीर अपने सुख में जैसे अधीर
हो उठे, भूल कर अपने को दे दिया मधुर कवि के हाथों;

बाँसों की झाड़ी में वतास, शत लास-युक्त स्वर भरती थी,
सब हरा-भरा था आस-पास ।

दोनों पढ़ते थे 'वर्ष शेष' :
ईशान-कोण का पुंजमेघ, चलता है ले कर अंधवेग
बाधाओं का अपमान किए, नीलांजन छाया को पसार;
इस मेघ रंध्र से पश्चिम में झुक झाँक रहा है संध्या का
पिंगल प्रकाश । विद्युत-विदीर्ण आकाश बीच
उत्कंठित पंछी-दल उड़ते जा रहे बाँध कोमल क़तार,
अंधड़ की नाईं प्राण खोल, गा उठो, चढ़ा दो बीन तार !

भारत के कवि की वह वाणी, पढ़ चला कभी आनन्द,
कभी आतंक लिए,
उल्लास और क्रंदन दोनों ही साथ किए ।
मंद-मंद चल रहे छंद, भर देते थे जैसे बलात्
बरसात नहीं भर पायी थी जो वन-पर्वत, नद-नदी-पात ।

जुलाई, १९३७

लुहार से

मुझे एक तलवार बना दे,
हवा कि जो लहरों पर दौड़े
इतनी हल्की धार बना दे।

लंबाई उसकी कितनी हो ?
पूरी बढ़ी फ़सल गेहूँ की
बढ़ते-बढ़ते तक जितनी हो;

और लचीली तेज़ साँप-सी,
सौ-सौ आँखों वाली बिजली की
तड़पन, बे-वक़्त काँप-सी;

चिकनी हो, रेशम काले-सी
पतली हो, ठहरो, पतली हो—
मकड़ी के फैले जाले-सी;

और दर्द या शीत सरीखी,
हो बे-दर्द, चढ़ाते सूली
जल्लादों के गीत सरीखी;

मूठ बनाते चित्र खींच दे
थके हुए भूखे किसान का
उस पर माँ का प्यार सींच दे।

अगस्त, १९३७

आज निश्चित हो

असि एक है
मसि एक है
मसि चुनी मैंने,
सुनी तैंने,
असि चुनी है;
मैं उतर लूँ क़लम से
मसि बिंदु,
तू बहा असि से
रकत के सिंधु,
मैं जगत बदलूँ
कि तू बदले जगत !
आज निश्चित हो
कि वह असि-धार
पैनी है
कि यह मसि-धार
पैनी है !

सितंबर, १९३७

गाँव

गाँव, इसमें झोपड़ी है, घर नहीं है,
झोपड़ी के फटकियाँ हैं, दर नहीं है;
धूल उड़ती है, धुएँ से दम घुटा है,
मानवों के हाथ से मानव लुटा है।
रो रहे हैं शिशु कि माँ चक्की लिये है,
पेट पापी के लिए पक्की किये है
फट रही छाती।

रात बीती है, अँधेरी छट रही है,
और पीली पौ अकेली फट रही है;
एक चिड़िया घोंसले को छोड़ जागी,
और पूरब में लगी बेलाग आगी।
गाँव में पहली किरन के साथ जागे,
चैन जगने पर नहीं जिनको, अभागे;
जोतना है खेत, हल के साथ निकले,
बीज बोना है कि दल के साथ निकले।
सुबह की ठंडी हवा कपड़े नहीं हैं,
पैर रखते हैं कहीं, पड़ते कहीं हैं;
पैर जिनमें गति नहीं कंपन बहुत है,
प्राण में जीवन नहीं, तड़पन बहुत है।

धूल, गोबर और कचरे में भरीं-सी,
देवियाँ निकलीं कहाँ जीवित मरीं-सी।
गाँव में सूरज सबेरा कर रहा है?
गाँव में सूरज उजेला भर रहा है?

ढोर छूटे हैं कि जंगल को चले हैं,
साथ में दो-चार चरवाहे भले हैं;
भले हैं यानी तनिक गा-से रहे हैं,
और अपने दुःख पर छा-से रहे हैं ।
दो घड़ी सूरज उन्हें बहला सका है,
हम सुखी हैं जोश में कहला सका है ।

तंग गलियों में कहीं बच्चे खड़े हैं,
लाल हैं पर भाग पत्थर से लड़े हैं;
धूल के हीरे नहीं अब धूल हैं ये,
फूल जंगल के नहीं अब शूल हैं ये ।
रूप इनका आँख में गड़-सा रहा है,
और ढाँचा प्राण पर पड़-सा रहा है;
हाय रे, बचपन तलक सुख से न बीता,
वाय रे, दारिद्रय तूने ख़ूब जीता ।

धूप चढ़ती है कि पनघट जम गया है,
एक छोटा-सा कुँआ है कम गया है;
तरुणियाँ हैं घाट पर झीमी झुकी हैं,
और वधुएँ हैं कि घूँघट में लुकी हैं ।
हँस कभी पड़तीं कभी कुछ बोलती हैं,
यह हँसी दुख में सनी है, खोलती हैं ।

दिसम्बर, १९३७

आषाढ़

हे मेघ पुंजीभूत, हे जलधार,
हे तडित, हे वेग, हे विस्तार,
हे पथिक के दूत, अक्षय-प्यार,
हे मिलन, हे विरह, हे अभिसार,
राधिका के नीप-तरु के दोल,
मत्त-केकी के मधुर हे बोल,
यक्ष की संदेश-वाहक आस,
दीन दादुर के अमित उल्लास,
आषाढ हे, कवि के निरंतर पर्व,
आषाढ हे, सर्वज्ञ हे मम सर्व;

कभी विद्युत-से, कभी सुरचाप-से,
कभी केकी कंठ और कलाप-से,
कृषक के आनंदमय संगीत-से,
विरह स्थित-से कि मिलन अतीत-से,
स्नात-वृक्षावलि, प्रफुल्लित मालती,
गंध-धारा-हत-थलों की पालती—
बाष्पमारा वायु के संचार-से,
अभिषेक-आर्द्रा मेघ-ध्वनि-संभार-से,
ऊर्मिक लिलावर्त नदियों से सजे
तरणि की उज्ज्वल किरण माला, तजे—
आषाढ भारत के बरसते मास,
हे सदा जी में कसकते मास,
छोड़ कर अपनी सहज-सी बान,
आज पागल हो उठे हैं प्राण !

आज ऋजु-कुंचित पथों को छोड़,
आज संसृति के नियम को तोड़,
चल पड़ा मैं पथिक मेरे साथ–
सद्य हल्दी से रँगे दो हाथ;
एक स्वर रोमांचकारी मंद,
एक गति, आह्लाद-उद्धत छंद !
युगुल-पद-तल अरुण शोभा-भार से,
नेत्र दो चंचल कि दिखते चार-से,
केश घन-काले तुम्हारे मेघ से,
सिक्त मेरे स्नेहमय अभिषेक-से,
माँग में सौभाग्य भर सिंदूर है,
और जी में प्राणता का पूर है

दूर हो वह दिन कि मैं चिंता करूँ,
मुझे वर दो, वरद मैं साहस भरूँ,
जहाँ बरसूँ एक हरियाली जगे,
ज्वलदर्चिमाला पहिन लूँ, लाली जगे,
यदि किरण छू ले, खिंचूँ सुरचाप-सा,
बैठ जाऊँ मैं हृदय पर छाप-सा !

जून, १९३८

मेघदूत

आज के पहले अनेकों बार,
कभी वातायन, कभी निज कक्ष से,
कभी कंपित गात ले दृढ वक्ष से,
कभी आँखों में हृदय की प्यास ले,
कभी प्राणों में अमित उल्लास ले,
कर चुका हूँ मेघ तुमको प्यार,
आज के पहिले अनेकों बार।

क्षितिज से उठते हुए हे रूप,
कभी एकाकी, कभी दल बाँध कर,
कभी निर्बल बन, कभी बल बाँध कर,
वायु से झुक कर कभी उड़ते हुए,
कभी उसको तुच्छ कर जुड़ते हुए,
देख पाया हूँ कि तुमने धूप,
ढाँक दी है हे बरसते रूप।

छेद कर दूरी हृदय को चीर,
नीप के तरु कंटकित करते हुए,
प्राण प्यासी झील के भरते हुए,
कभी उन्नत विंध्य पर चढ़ते हुए,
नर्मदा की लहर पर बढ़ते हुए,
छू चुके हो सजल मेरा तीर,
छेद कर दूरी हृदय की चीर।

किन्तु हे निर्घोष हे स्वर-तार !
विरह के आश्वास, जी के स्नेह हे,

हे पथिक के मार्गदर्शक, गेह हे,
मिलन के उल्लास हे शोभासने,
हे तडित गति, वेग हे विस्तृत घने,
कुछ नहीं समझा कि क्यों हर बार,
आज भीतर काँपते हैं तार।

चिर पुरातन, पूर्व परिचित वेश,
वही पहिले से उलझते केश घन,
वही पहिले-सा सजल मन कृष्ण तन,
वही चपलता है वही सुरचाप भी,
है वही संगीत स्वर भी शाप भी,
किन्तु जाने क्यों नया संदेश,
दे रहा तब पूर्व परिचित वेश।

मेघ, तुमको देखते ही आज,
देख पाता हूँ उलझते केश-घन,
देख पाता हूँ सजल मन गौर तन,
तडित भी दिखती, खिंचा सुरचाप भी
एक स्वर संगीत, वर भी शाप भी
सामने आती किसी की लाज,
मेघ तुमको देखते ही आज।

दिन एक उज्जयिनी पुरी में बैठ,
सौंप कर विश्वास तेरे हाथ में,
और अपनी कल्पना कर साथ में,
भर दिया तुमको पराये क्लेश से,
विरह-व्याकुल यक्ष के संदेश से,

कवि-श्रेष्ठ ने भीतर हृदय के पैठ,
दिन एक उज्जयिनी पुरी में बैठ ।

और उस दिन से अभी तक मेघ,
ले अपरिचित के लिए संवेदना,
पंक्ति तेरी खिन्न चित्त आकुलमना,
रामगिरि की चोटियों पर घूमती
यक्षिणी के पास चलती चूमती,
कर रही है शोक का अभिषेक,
ठीक उस दिन से अभी तक मेघ ।

और वह वाणी कि उसके बोल,
विशद वन से ले लता के पात तक,
उषा से ले कर अँधेरी रात तक,
जा रहे उस विपुल पथ के पोर तक,
पुण्य भारत की प्रकृति के छोर तक,
दृश्य सारे ही गये हैं घोल,
हे सजल, तुझमें अनोखे बोल ।

चिर विरह का वह अतुल अभिशाप !
हो गया वरदान कवि के स्पर्श से,
भर गये सर सरित वन सब हर्ष से,
लेखनी में ले युगों का ज्ञान रे,
झूमते थे विश्व-कवि के प्राण रे,
पड़ गयी तेरे हृदय पर छाप,
हो गया वरदान वह अभिशाप ।

और तब से यक्ष के हे मीत,
जो अपेक्षाकृत-दुखी जितना रहा,

खोल कर तुमने हृदय उतना कहा,
आज मैं भी यक्ष का परितप्त हूँ,
वेदना पाले हुए अभिशप्त हूँ,
आज मैं समझा तुम्हारा गीत,
यक्ष के हे पूर्व परिचित मीत।

जुलाई, १९३८

प्रिय लालजी

पौष की इस रात में मैं पत्र लिखने बैठता हूँ,
स्वस्थ है मन और पीला चाँद निकला आ रहा है,
पास के फैले हुए वन पर उजेला छा रहा है,
देख पाता हूँ क्षितिज से मिल रही-सी अद्रि-श्रेणी
देख पाता हूँ हवा में हिल रही-सी किरण-वेणी ।

दूर से बजते हुए पशु-कंठ-किंकणि-स्वर चले हैं,
पास की दो पर्ण कुटियों में सरल दीपक जले हैं
खेत की इस मेंड़ पर हैं छींद के दो झाड़ सीधे,
और उठते शस्य-दल से रश्मि के सौ तार बींधे,
आज नीलाकाश में तारे न जाने कम बहुत हैं,
रातरानी की उमड़ती आँख जैसे नम बहुत है ।
नीलिमा में आज जैसे एक चुपकी आ बसी है,
इस सलोनी के हृदय की बात किरणों ने कसी है ।

रूप के अतिरेक में, हरएक का दुख ढँक गया है,
आज के सौन्दर्य का अन्दाज़ निश्चय ही नया है ।
आज के इस चाँद को वे महत् उज्जयिनी-निवासी,
देख यदि पाते, बनी होतीं सभी किरणें प्रवासी,
विरह-व्याकुल आज कोई यक्ष ले इनका सहारा,
तुच्छ कर देता किसी का श्राप, वन की कष्ट-कारा ।

ये सरल सुकुमार किरणें विन्ध्य के विस्तृत वनों में,
ये तरल-तनु चार किरणें, नर्मदा के कच-कनों में,
निपट भोली वन्य युवती के हृदय से खेल करतीं,
किसी पल्वल-तट विहरती बाँसुरी से मेल करतीं,

विरह के संदेश की कुछ इस तरह से सृष्टि करतीं,
अश्रु के आवेग की कुछ इस तरह से वृष्टि करतीं,
पथिक-पर्युत्सुक-मना अभिसारिका का वेष पावन,
इस तरह खिंचता कि वह आषाढ, उसकी बाढ़-सावन,
चार किरनों का, समुज्ज्वल-श्री-विजय-अभिषेक करते,
काव्य-साधक साधु-स्वर से व्योम-पृथ्वी एक करते।

लालजी, इस रात को मैं आज ऐसे देखता हूँ,
लालजी, इस रात को मैं आज ऐसे लेखता हूँ—
विश्व-जित रघु को कि जैसे कौत्स ने देखा कभी था,
कोश था निःशेष जिसने दान में खोया सभी था।
मखज-निर्धनता कि जिसकी श्लाघ्य थी प्रत्येक क्षण पर,
सोम ज्यों सुरपीत गौरववान है प्रत्येक कण पर।
आज इसकी सब महत्ता सोम से परिपीत यद्यपि,
आज इसकी जगह गूँजा सब जगह वह गीत यद्यपि,
किन्तु है विश्वास इतना कामना यदि मैं करूँ तो,
शिष्य-सा वरतन्तु के यदि आज मैं इसको वरूँ तो,
मेघ इसके द्वार आ कर काव्य की वर्षा करेगा,
या कि धनपति की तरह वह कोष आ इसका भरेगा।
छन्द के सत्पात्र में सज, यत्नपूर्वक यह कहानी,
गुरु चरण में रख सकेगा जन्म का मानी—

भवानी

दिसंबर, १९३८

नववर्ष

दुस्समय ने साँस ली है,
वर्ष भर अविरत किया श्रम,
और जगती को निरन्तर ढालते रह कर दिया तम,
पी लिया उसने, कि शंकर शिव करें,
उसका न केवल कंठ नीला है;
भिद गया रग-रग सजगता खो चुकी,
हर तन्तु ढीला है;
यम, नियम में दृढ,
कि उनके सिद्ध हस्तों ने स्वयं ही फाँस ली है,
किन्तु हे शिव एक आशा है
समय ने साँस ली है।

शीश पर गहना बनाए, टाँग रक्खा है युगों से
क्यों सुधाकर को ?
कि हे मंगल विधाता, आज तो इस चैत्र में,
दो बूँद टपका दो,
न असमय में मरें हम, आप मृत्युंजय,
कि हममें प्राण तो भर दो;
उठें हम और उठ जाए जगत से भाग्य का रोना,
सुलग उठे हमारे प्राण की भट्टी कि तब गल जाए यह सोना
कि जिसकी नींव पर पशुता
हवेली बाँध सिर ताने खड़ी है,
प्रसीदतु शिव,
कि आयी पास मरने की घड़ी है।

मार्च, १९३९

एक आशा

याद किसकी करूँ ?
आज इन अवसाद के बढ़ते पलों में, कौन हैं मेरे
करूँ किनका भरोसा ?
कौन से कह दूँ कि तुम मेरे बनो,
कौन के आगे पसारूँ
शीर्ण अपनी दीनता का जल रहा इतिहास आँचल !
कौन से कह दूँ कि मेरे प्राण ! दो आँसू मुझे दो,
प्राण लो आँसू मुझे दो !
कौन के आँसू तरल इतने कि मेरे प्राण ले कर भी गिरें,
कौन की आँखें सरल इतनी,
कि सुख से भरी दुनिया छोड़ कर मुझ तक फिरें,
मैं हृदय भारी किए हूँ,
कभी विस्तृत विश्व में कोई मिलेगा
एक यह आशा कि इस पर ही जिए हूँ,
और यह कोई कि इसके आँख होगी, दर्द होगा,
दूसरे की कसक ज्वाला छू न पाए,
और छू भी ले न कोई आँच आए,
इस समझ तक जी न जिसका सर्द होगा ।
और यह कोई कि इसके पुण्य, मुझको छू सकेंगे,
प्राण इतने सजल होंगे, देखते ही चू सकेंगे,
बह सकेंगे एक अविरल धार में दो,
और सुख की सृष्टि होगी,
जब कभी बादल घिरेंगे,
वज्र की गर्जन न होगी तब पुलक की वृष्टि होगी ।

मार्च, १९३९

चित्रकार से

आज तेरे चित्र देखे,
और जी में खुश हुआ, कह कर बताया।
और फिर-फिर जी हुआ अच्छा कहूँ,
कुछ इस तरह परबस हुआ लिख कर जताया।
बहुत दिन से सोचता था यह,
कि तेरा प्यार, तेरी भावना, तेरी सरलता और
तेरे भीगते सपने
रहेंगे मौन कितने दिन,
कि कितनी चिर अवधि तक,
कह न पाएँगे किसी से
बोल कर, अपने हृदय की बात,
फैली चाँदनी की रात या वातास की धड़कन;
नहीं थे पास तेरे छन्द,
जलती थी निरंतर बहुत गहरे पर,
धधक कर मत सही, लेकिन अवाधित ज्वाल
निशिदिन मन्द।

आज तेरे चित्र देखे,
और तब आश्वास पाया,
ये कि जो बरसात में चुप हो गयी थी,
शोक से नीरव हुई ऐसी कि मानो खो गयी थी,
उस उमड़ते कंठ वाली कोकिला ने गान गाया,
ये कि फिर मधुमास आया।
और वह कूकी,
कि हूकी मंजरी के बीच से अपना समेटा प्यार
भर कर। गान गूँजे ही नहीं बहने लगे,

और पत्थर के बड़े से ढेर
ये पर्वत, हुआ ऐसा खुले कुछ इस तरह, बिन देर
नदियों तक बढ़े कहने लगे
'हम प्यार करते हैं कि देखो दिल हमारा',
झूठ मत समझो,
कि उनने चीर कर जी बताया,
और सजला सरित सखियों ने भरी आँखें
कि उनके बीच बहती थी इन्हीं-सी एक जलधारा।

आज तेरे चित्र देखे,
ये कि मेरे गान थे अब तक अधूरे।
आज तू छू दे कि ओ पारस,
इन्हें मिल जाए सोने की चमक,
बहुमूल्यता उसकी,
कि तब हो जाएँ वे पूरे।
रंग भर दे तू
कि मेरे स्वर खिंचें हर साँझ पर
बन कर सुनहले अभ्रदल,
खिल जाएँ शत-शत कमल
मेरी गीत-सरिता में,
उठे मेरी पहाड़ी, सिर उठा कर गगन को चीरे,
कि मेरा चाँद छुप कर झाँक कर देखे
किसी अभिसारिका को नर्मदा तीरे,
बढ़ा कर कर, दिखा दे पथ
झुके मेरी लता झूमे कि झूले भी,
और मेरा कुंद फेंके कली फूले भी।

एक सिहरन-भर बड़ी कोशिश हुई
तब खींच कर लाये,

कि मैंने गीत जो गाये
आज उनमें रंग ला दे, रूप दे मेरे स्वरों को,
आज भर ले प्यालियों में चाँदनी,
कूँची बना सूरज करों को;
खींच दे नभ के बहुत विस्तृत निराले नील-पट पर,
एक वह झाँकी,
कि मैंने शब्द लिखती बेर,
अपने निपट सीमित, प्राण-प्लावित
हृदय पर आँकी,
तू दिखा दे
उस कुदाली पर झुके, टूटे हुए धड़ को
कि जिसकी आँख जिसके भाव
मैंने बोल बतलाये;
तू दिखा दे उस चुके, मन मार कर बैठे हुए
जड को
कि जिनके दुःख जिनके घाव,
मैंने खोल जतलाये;
बता पाये न मेरे बोल फिर भी वह सभी
जितना छुपा था अंक में मेरे,
जता पाये न मेरे छन्द वह अभिरूप
जो था रंक में मेरे !

बने तुझसे अगर मेरे यशस्वी, तो
बना दे दुःख की तसवीर,
जी को चीर जो मैंने लिखी है रक्त से अपने,
कुदाली पर झुके मज़दूर की ज्वाला जगा दे,
और कर दे सत्य वे सपने कि जिनकी बात
मैंने सौ तरह की है;
और यदि ली है सिसकते प्राण से कूँची

तो ऐसा रंग अपनी प्यालियों में घोल
जो मेरी रगों में रुक गया-सा है;
लगा दे हाथ ओ अनमोल,
ऊँचा कर बने तुझसे अगर तो
शीश मेरा झुक गया-सा है।

बहुत दिन से सियाही फेरता हूँ मैं जलन पर
बूँद टपकाता,
बहुत भर जाएँ यदि आँखें तो उनको
मूँद टपकाता।
जलन कम हो नहीं पाती कि छाती
टूटती-सी है,
भरन कम हो नहीं पाती कि धारा,
छूटती-सी है।
बने तुझसे,
तो सतरंगे धनुष पर तीर को रख दे,
बने तुझसे,
तो बहती आँख के आगे,
मधुर तसवीर को रख दे।
बने तुझसे,
तो अपने तीर से
दो टूक कर दे,
एक ही छन में युगों की पीर के बादल,
अगर उमड़ें तो सुख ले कर सजी तसवीर के बादल।

अप्रैल, १९३९

कोई आया

कोई आया,
सो रहा था मैं जगाया ।

चाहता था कोई आए,
और साँकल खटखटाए,
'खोलता हूँ' कहा मैंने और खोला द्वार,
बजी साँकल खननखड़,
'चूँ-चूँ चनन चड़' तभी बोला द्वार;
मैं सुखी था कोई आया,
सो रहा था मैं जगाया ।

द्वार खोला,
मन सहज भोला
न डोला, द्वार जब खोला, किसी भी हरे
पीपल का कि वट का एक पापी पात !
मन सहज भोला न समझा बात ।

कौन आया ? सो रहा था मैं जगाया !
मैं खड़ा खोले किंवाड़े,
शून्य आधी रात,
बिन चले भी छू गयी मुझको अकंपित वात !
गात रोमांचित हृदय भयभीत;
कौन आया ? किस तरह मुझको जगाया ?

'खोलता हूँ' जब कहा,
तब क्यों नहीं बोला,
कि रे मत खोल, मैं नहीं आया,
जागता था तू नहीं मैंने जगाया ।

जून, १९३९

गोपाल

धूप ढलती आ रही है, शाम है,
दूर से गोधूलि वेला में, यही तो नाम है
धूल की धूमिल घटा,
पश्चिम दिशा की छटा को ढाँके हुए,
पास चलती आ रही है।

इस घटा में छुप गये हैं बड़े छोटे,
खरे खोटे, बिना घंटी और घंटी के धनी,
इस घटा में,
लीन हैं पीना, अपीना,
हृष्ट कपिला पुष्ट मीना,
और चंचल पिंगला का नाम है दीना,
कि वह भी छुप गयी है,
चुप गयी है बाँसरी गोपाल की।

वह घटा को घेरता है,
चल-विचल होती दिखे यदि घटा,
आँखें फेरता है,
टेरता है,
और उसका वंश,
आयास बिन संचरित,
मानो वंश उसका अंश।
वह घटा को घेरता है, टेरता है, फेरता है;
हेरता है शून्य आँखों से कभी,
निज रक्तस्नाता अंगुलियों को,
दुःख आँखों में नहीं है,
बेकसी है एक।

तुम कदाचित् निकल आओ,
धूलिमय इस एक पथ से
पाँव पैदल या कि रथ से,
और तब यदि
धूप ढलती आ रही हो,
दूर से पश्चिम दिशा की
छटा को ढाँके हुए,
यह घटा चलती आ रही हो,
आम्र-वन की मंजरी की
गंध को पीता हुआ-सा,
फट रहे से अभ्र-दल को,
किरन से सीता हुआ-सा,
सूर्य रक्तांबर लपेटे,
स्वर्ण की महिमा समेटे,
अस्त गिरि पर व्यस्त हो कर भी,
सँवरता जा रहा हो।

और तब यदि,
रक्तस्नाता अंगुलियों से चित्र लिखता,
धूलिमय इस घटा में,
छन एक दिख, छन एक छुपता,
आज का गोपाल मेरा,
भाग्य मेरा भाल मेरा,
दिख पड़े तुमको कहीं तो देख कर रुकना;
कि पुण्यारण्य भारत के
इसी के साथ रहते हैं,
कि निर्झर उतर कर गिरि से

इसी के साथ बहते हैं;
बरसता है सजलतम मेघ,
इसकी आँख के देखे,
यही है पात्र छाया का
लहरते शाल के लेखे !
मलयवन, स्वेद कन सूखें इसी के
इसलिए डोला,
बहल सकता इसी का मन,
कि कोकिल इसलिए बोला।

अगर श्रद्धा न सूखी हो,
तो इसको देख कर रुकना,
कि भारत की प्रकृति के पूज्य,
इस गोपाल तक झुकना।
चुका देना कभी ऋण,
रक्तस्नाता अंगुलियों के नित्य बहने का,
झुका देना कभी अभिमान रहने का
बड़े ऊँचे महल में वन्य के आगे,
कदाचित् इस तरह,
उस रोज़ इसकी दीनता जागे,
समझ ले दुःख अपना और ले कर वेग
निर्झर का,
कि दृढता शाल की बाँधे,
सघनतम मेघ से ले फैलना,
स्वर छीन कोकिल का
अधर पर मलय वन की साँस
फिर से बाँसुरी साधे।

मधुरतम तान में भी
भैरवी का नाद भैरव बन
कँपा दे दिग्गजों के जी
कि धरिणी धड़कती डोले,
मलय की आग ले कर
जिस घड़ी
वह बाँसुरी बोले !

जून, १९३९

पहाड़ी

छोटी-सी एक पहाड़ी है,
है एक नगर, है एक गाँव, वे दोनों मत मिलने पाएँ,
इसके उपवन के कुसुम नहीं उसके खेतों खिलने पाएँ,
इसलिए खड़ी है सिर ताने, इसलिए बीच में आड़ी है;
छोटी-सी एक पहाड़ी है ।

इसके शरीर पर झाड़ नहीं, छाती पर घास नहीं जमती,
सावन कितना भी बरस बहे, इसकी यह बात नहीं कमती,
निर्लज्जा है, बिन लाज-शरम दोनों के बीच उघाड़ी है;
छोटी-सी एक पहाड़ी है ।

पत्थर के बड़े-बड़े ढोंके रस-कलस फोड़ते एक ओर,
मिट्टी कंकड़ को साथ लिए, वे अजस जोड़ते ओर-छोर,
इस ओर उपेक्षा की वदली, उस ओर भयावह राड़ी है;
छोटी-सी एक पहाड़ी है ।

इस एक पहाड़ी के मारे, है नगर नगर और गाँव गाँव,
दोनों की बात नहीं मिलती, वह सिर के बल, यह पाँव-पाँव,
इस तरफ़ लरज़ती रेल और उस तरफ़ टरकती गाड़ी है,
छोटी-सी एक पहाड़ी है ।

यह काव्य असुन्दर हो चाहे लेकिन इसमें है सत्य एक,
यह हल्का है गंभीर नहीं फिर भी इसमें है तथ्य एक,
किसलिए नहीं हम चढ़ उतरें, छोटी-सी अगर पहाड़ी है,
किसलिए खड़ी है सिर ताने, किसलिए बीच में आड़ी है ।

जुलाई, १९३९

मेरे नेता

मैं किसान हूँ, मेरे नेता,
कलि या त्रेता युगों-युगों से,
मैं तेरी माँ शस्य श्यामला भारत-भू का
सजग प्राण हूँ।

नेता मेरे, मैंने अभी-अभी सुन पाया,
कोटि-कोटि कंठों से निकला एक गीत जब
मुझ तक आया
'माँ का मुकुट हिमालय,
सूरज सज्जित करता साँझ-सबेरे,
सागर चरण पखारे देता
वीणा उसके हाथ
कि कुसुमित कंज-दलों का साथ,
दक्षिण पवन बलाएँ लेता' !
मैं किसान हूँ मेरे नेता,
कलि या त्रेता, युगों-युगों से,
मैं तेरी माँ शस्य श्यामला भारत-भू का
सजग प्राण हूँ।

सोच रहा हूँ नशा किया है,
कोटि-कोटि इन गाने वाले कंठों ने,
मधु ढाल पिया है,
या कि मत्त है मेरी माँ ही,
उसने पागलपन में आ कर,
शायद ऐसा वेश लिया है।

मेरी माँ के मुकुट, अरे परिहास करो मत !
उस दुखनी के हाथों वीणा !
उस तपसिन की शीर्ण कुटी में,
कोटि-कोटि कंठों से गा कर,
बरबस लास-विलास,
दुहाई, बरबस हास-विलास भरो मत ।
मेरी माँ के मुकुट !
कि रानी किस क्षण उसे बनाया नेता ?
मुझे बताओ, कोटि-कोटि कंठों से गाने वाले लोगो,
तुमको ऐसी हँसी,
कि ऐसा कटु परिहास सुनाई देता ?
उस दुखनी का शक्तिहीन सिर,
साध सके गुरु भार मुकुट का !
देखो, नशा छोड़ कर देखो,
तनिक सँभल कर, इस सपने से,
साबित सत्य जोड़ कर देखो ।
अट्टहास कर रहा मुकुट की बात सुनें से एक,
आज आँसुओं से होता है
रे माँ का अभिषेक ।

मेरी माँ का रूप,
आँख खोले से तुम्हें दिखेगा नेता,
उसके आगे यह रत्नाकर,
कौड़ी मोल बिकेगा नेता !
यह मिथ्या अभिमान कि,
मैं तो माँ के चरण पखार रहा हूँ,

नित्य लहर कर मैं, लहरों पर
माँ का रूप उतार रहा हूँ,
अपना पानी चढ़ा-चढ़ा कर,
हिमगिरि को चमका देता हूँ,
और किरन को अगर मिला
पाता हूँ तो दमका देता हूँ !

यह मिथ्या अभिमान,
सत्य को जान,
शरम से झुक जाएगा,
कोटि-कोटि कंठों से,
निकला गान,
सहम कर चुक जाएगा।
दक्षिण-पवन शान्त हो कर
तब सोचेगा यह बहना कैसा ?
कुसुमित कंज कहेंगे इतने
दुःख में खिलते रहना कैसा ?

माँ का रूप हमारे लाखों
कंकालों में जाग रहा है
यही रूप, युग बीत गये,
मेरी छाती का दाग़ रहा है।

मेरी शस्य श्यामला माँ के,
बेटे भूख लिए बैठे हैं,
कभी संजीवन मूर मिली थी,
अब तो ज़हर पिए बैठे हैं।

इसका अर्थ सोच कर देखो,
रोज़ ज़हर पीना पड़ता है,
वज्र-प्राण कर गयी सँजीवन,
मर-मर कर जीना पड़ता है;
मौत नहीं अपने भागों में,
तुम्हें गीत का चाव चढ़ा है,
किन्तु सोच कर देखो नेता,
इन गीतों का भाव बढ़ा है।
इन गीतों के शब्द,
दुःख के दाम ख़रीदे-बेचे जाते,
आहें कितनी निकला करतीं
जब तुम एक-एक पद गाते।

मेरा हाथ पकड़ लो नेता,
माँ के दरसन तुम्हें कराऊँ,
मेरी बात सुनो तो नेता,
मेरे साथ चलो, बलि जाऊँ।

आज नहीं माँ के स्तन में दूध,
कि उसका लाल विकल है,
आज निपट निरुपाय कि
माँ के जी में आग, आँख में जल है।

इस ज्वाला का लाभ उठा कर,
दक्षिण-पवन लपट बन लहरे,
सागर इसको चूम बने बड़वानल,
हिमगिरि गल कर घहरे।

इस ज्वाला का लाभ कि
'धू-धू' करके मेरे दुःख जला दो,
झूठ-मूट के मुकुट गढ़ो मत,
आज लपट की आँच कि इसमें
साँच-माँच के मुकुट गला दो ।

अगस्त, १९३९

मसान

जब रात शून्य, निस्तब्ध प्रहर,
गति-हीन वायु, गति-हीन लहर,
निष्कंप हृदय, स्तब्ध प्राण,
तब साँसें-सी गिनता मसान
मेरे पड़ौस का यह मसान ।

जिसको जीवन से प्यार नहीं,
जीवित का जीर्ण दुलार नहीं,
जो मरे हुओं की बस्ती है,
मरने से जिसकी हस्ती है,
निष्कंप हृदय, निस्तब्ध प्राण,
साँसें गिनता है वह मसान ।

अपनी कल-कल से डरी हुई,
नव नींद-भरा-सी भरी हुई,
बहती है सरिणी एक यहाँ,
शीतल निर्झरिणी एक यहाँ,
यह ठंडी मौत-सरीखी है,
यह शोभा लिए परी की है ।

यह परी सरीखी अनजानी,
इसका उड़ता-उड़ता पानी,
इसके ये तुले किनारे दो,
उड़ने के सहज सहारे दो,
यह राख रँगा इसका पानी,
यह परी सरीखी अनजानी !

इसके पानी पर पात पड़े,
वृक्षों के नीचे गात गड़े,
हैं गात गड़े नवजातों के,
सौ संध्या और प्रभातों के !

संध्या-सी हँसी, सुबह-से मन,
सूरज-से रंग, किरन-से तन,
ये उज्ज्वल मिट्टी के नीचे,
ये कोमल गिट्टी के नीचे !
विष-वृक्ष हँसी साधे-से हैं,
पक्षी उन पर आधे-से हैं,
कलहीन, पंख की फड़क बिना,
निस्तब्ध दिशाएँ सड़क बिना !

विष-वृक्ष मौन-मन, डोले बिन,
भयभीत सबेरा बोले बिन,
निश्चल छाया, निश्चल पानी,
निस्पंद पात, निर्मम वाणी,
निर्मम वाणी, हर चन्द मूक
चुप-चुप मसान के चार टूक !

इस चार टूक की छाती पर,
आदम के आदि संगाती पर,
शतधा उल्लास-चरण चुपके,
नृत्यति हतहास-मरण चुपके ।

अगस्त, १९३९

सतपुड़ा के जंगल

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से,
ऊँघते अनमने जंगल ।

झाड़ ऊँचे और नीचे
चुप खड़े हैं आँख मींचे;
घास चुप है, काश चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है;
बन सके तो धँसो इनमें,
धँस न पाती हवा जिनमें,
सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते, अनमने जंगल !

सड़े पत्ते, गले पत्ते,
हरे पत्ते, जले पत्ते,
वन्य को पथ ढँक रहे-से,
पंक दल में पले पत्ते,
चलो इन पर चल सको तो,
दलो इनको दल सको तो,
ये घिनौने-घने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते, अनमने जंगल !

अटपटी उलझी लताएँ,
डालियों को खींच खाएँ,

पैर को पकड़ें अचानक,
प्राण को कसलें कपाएँ,
साँप-सी काली लताएँ
बला की पाली लताएँ,
लताओं के बने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल।

मकड़ियों के जाल मुँह पर,
और सिर के बाल मुँह पर,
मच्छरों के दंश वाले,
दाग़ काले, लाल मुँह पर,
वात-झंझा वहन करते,
चलो इतना सहन करते,
कष्ट से ये सने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल।

अजगरों से भरे जंगल
अगम, गति से परे जंगल,
सात-सात पहाड़ वाले,
बड़े-छोटे झाड़ वाले,
शेर वाले बाघ वाले,
गरज और दहाड़ वाले,
कंप से कनकने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से,
ऊँघते अनमने जंगल।

इन वनों के खूब भीतर,
चार मुर्गे, चार तीतर,
पाल कर निश्चित बैठे,
विजन वन के बीच पैठे,
झोंपड़ी पर फूस डाले
गोंड तगड़े और काले
जब कि होली पास आती,
सरसराती घास गाती,
और महुए से लपकती,
मत्त करती बास आती,
गूँज उठते ढोल इनके,
गीत इनके ग़ोल इनके !

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए से
ऊँघते अनमने जंगल
जागते अँगड़ाइयों में,
खोह खड्डों खाइयों में
घास पागल, काश पागल,
शाल और पलाश पागल,
लता पागल, वात पागल,
डाल पागल, पात पागल,
मत्त मुर्गे और तीतर,
इन वनों के ख़ूब भीतर !

क्षितिज तक फैला हुआ-सा,
मृत्यु तक मैला हुआ-सा,
क्षुब्ध काली लहर वाला,

मथित, उत्थित जहर वाला,
मेरु वाला, शेष वाला,
शंभु और सुरेश वाला,
एक सागर जानते हो ?
उसे कैसा मानते हो ?
ठीक वैसे घने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल।

धँसो इनमें डर नहीं है,
मौत का यह घर नहीं है,
उतर कर बहते अनेकों,
कल-कथा कहते अनेकों,
नदी निर्झर और नाले,
इन वनों ने गोद पाले,
लाख पंछी सौ हिरन-दल,
चाँद के कितने किरन दल,
झूमते बन-फूल, फलियाँ,
खिल रहीं अज्ञात कलियाँ,
हरित दूर्वा, रक्त किसलय,
पूत, पावन, पूर्ण रसमय,
सतपुड़ा के घने जंगल,
लताओं के बने जंगल।

अगस्त, १९३९

सुनो ए सावन हो !

सुनो ए सावन हो !
एक थे तुलसीदास,
हमारी भाषा के कवि,
राम के भक्त ।

एक दिन तुलसीदास,
हमारी भाषा के कवि,
राम उन तक आये,
उठे दौड़े धाये ।
झुके मत तुलसीदास
हमारी भाषा के कवि,
राम शर-चाप बिना,
राम की छाप बिना ।

खिन्न-चित्त तुलसीदास
हमारी भाषा के कवि,
हुए कुंठित बोले,
झुकेगा मस्तक नाथ,
हाथ धनुसायक लो ।

सुनो ए सावन हो,
कि मैं हूँ उनका दास,
उन्हीं की भाषा का कवि
सुना सावन आया,
उठा दौड़ा धाया,
अपरिचित रूप किन्तु तुम,

चाँदनी और धूप तुम,
अभ्र बिन नीलाकाश,
खिन्न-चित और उदास,
साँझ सुर-चाप बिना,
तुम्हारी छाप बिना,
कि मैं हूँ उनका दास,
उन्हीं की भाषा का कवि,
झुकेगा मेरा माथ,
हाथ धनुसायक हो,
सुनो हे सावन हो।

अगस्त, १९३९

सावन

चल रहा हूँ, शाम है,
रँग बादलों का बदलता है,
लाल पीले फूल हिलते हैं,
अनेकों बड़े-छोटे लोग मिलते हैं,
सड़क पर बात करते
या कि साधे मौन;
चहकते पंछी चले हैं,
सड़क के दोनों तरफ़
ऊँचे खड़े हैं झाड़ और
पहाड़ आगे;
सजग फूलों से सजायी
वेणियाँ, हिलती हुईं,
सौ श्रेणियों में आ रही हैं,
और सावन है
कि वे सब गा रही हैं।

सोचता हूँ,
किस तरह इस हरे सावन का,
बनूँ मैं अंग ?
किस तरह इस ढंग से मैं भी हँसू बोलूं
कि सावन साथ दे मेरा,
कि उसके संग मैं हो लूँ ?
यह हरा मैदान,
छोटे किलकते बच्चे,

मचलते-से युवक,
गंभीर सुख में शान्त मन से
बहस करते प्रौढ़,
है कहाँ स्थान मेरा ?
यह भरी बरसात,
वह सूना किनारा,
दूर तक फैला हुआ,
मिट्टी-रँगा पानी
कि धानी खेत,
जा कहाँ बैठूँ कि मिल जाऊँ,
लगूँ इनका सँगाती ?
इस महासंगीत का वह कौन-सा स्वर है
कि जिससे मेल खा सकती,
हृदय की धृष्ट धड़कन,
मन बहल जाता;
कि मैं भी इस महासंगीत का
स्वर खोल कर गाता।

लीन हो पाती कहीं,
बौछार की खर धार में,
तलवार की खनखन,
विकल झंझा कहीं
गतिवान उड़ते यान को पीता,
बिना आधार कर देता
अगर बेतार की खबरें,
उमड़ती नदी का पानी,

बहा सकता अगर अभिमान,
उसके फेन-सा निर्बल
कहीं अधिकार हो जाता;
अगर बिजली चमक कर,
आँख से कहती
कि बहती झोंपड़ी में एक
हाहाकार बैठा है,
गिरा होता कहीं
गर्वित किसी के शीश पर
यदि वज्र, भू पर सत्य दिख जाता,
कि पानी आज
बखरे खेत पर सौभाग्य लिख जाता।

अगर सावन
हरे करता न मेरे घाव,
मेरा चाव भी बढ़ता,
गुँजाता गीत मैं भी हर्ष के,
दुख दोल क्यों चढ़ता ?
कौन-सा वह साल होगा,
लोग अपनी जब
छिनाई-सी हँसी को छीन लेंगे,
जब कि सावन सिन्धु के
तल में जमाए मोतियों को,
प्राण की बाज़ी लगा कर
धँस पड़ेंगे बीन लेंगे ?
कौन पल होगा
कि जिसमें

प्रथामय हँसना न होगा,
क्रोध लौटेगा पुराना,
कब बँधेंगी मुट्ठियाँ वे
कड़ी जिसकी चोट होगी,
आदमी की आदमी से
जब न कोई ओट होगी ?
ओट इनकी मुट्ठियों की
चोट से गिर-गिर पड़ेगी,
और बरसों की हँसी
हर चोट पर फिर-फिर पड़ेगी,
आज का सावन सुरा है,
सुख नहीं कोई
कि केवल नशा है,
बेशक बुरा है;
चार पल दुख भूलता है,
भूलता भी कहाँहै मानव
कि उसका दुःख गहरा,
दुःख उसका गीत ठहरा !

दो भयानक शक्तियों के बीच
है उसका बसेरा,
इस तरफ़ है रात काली,
उस तरफ़ किरनें कराली,
यह क्षितिज का एक तारा,
भाग्य इसका है कि डूबे !
उषाधारा का रँगा जीवन

इसी के ख़ून से है।

चलो ले कर,
एक नव आशा,
नयी इच्छा,
नया उत्साह;
हम जहाँ
सुख ढूँढ़ते हैं
वहाँ अब केवल प्रलय है,
वहाँ सावन की नहीं
शर की विजय है,
इसलिए हम चलें,
सावन में सँभालें खेत अपने,
बखर दें बो दें उगा दें,
आज उनमें नये सपने,
ये कि जब फागुन सजीला,
फूल-से सपने खिला दे,
गा उठें इस ज़ोर से,
आवाज़ जगती को गुँजा दे।

अगस्त, १९३९

सावन

बरस बरसात; आधी रात, व्याकुल वात,
वातायन विकल
दल चल; हमारे पल,
हमारे प्राण,
पागल, सरल, उच्छृंखल ।

विरल विस्तार, झिलमिल धार,
छाया दीप की पथ पर
अगम अधिकार,
निर्मम प्यार पानी का
लता, तरु, डाल
पल्लव पर ।
प्रखर बौछार, तीखी धार,
भीमाकार घन का
रुद्र गर्जन
विपुल विन्ध्या-भर ।

चरम गति चंचला, असि अंचला
आलोकमय,
आसक्तिमय, अम्बर ।

सिहरा उठ प्राण,
यह पानी अजस्र,
सहस्रधारा !
वाष्प भारा वायु !
गा इन्हें वाणी,

यही हैं गेय,
आज पल पावन,
प्रहर आराध्य
आज सब कुछ साध्य ।
सावन बाध्य देने को
सभी कुछ ।

आज नास्ति अदेय किंचित् ।
यह घड़ी, ऐसी झड़ी
इसमें बखेरो वक्ष-भर आश्वास
नव उल्लास, बहुधा-हास,
कम्पन, पुलक-पूरित गान;
आज रँग ले प्राण,
सावन रँग सुहावन ।
आज स्वर भर,
दश दिशाएँ
पल, प्रहर, प्रातः, निशाएँ
रक्त संध्या, विपुल विन्ध्या,
आज केवल हास !
गा इन्हें वाणी
यही हैं गेय !!
ये अमित आराध्य;
आज सब कुछ साध्य ।

अगस्त, १९३९

सावन

चल रहा हूँ शाम बीती,
पूर्णिमा के चाँद ने बादल बिनासे* रात जीती,
दूर तक छिटकी जुन्हाई,
लड़कियों ने पैंग झूले,
हर हिंडोले को हिला कर
स्वर मिला कर
विन्ध्य के उन्मत्त मन,
सौरंग रँगीले,
नृत्य में भूले हुए,
रोमांचकारी गान वाले,
नव कलापी से ।
कि कजली गूँज कर फैली,
हुई दुगनी जुन्हाई इस विभा से,

युवतियाँ उल्लासमय,
वातास को चीरे हुए हैं,
आज जगती की रगों में,
खून बन कर दौड़ते-से
दुःख-घन धीरे हुए हैं !
यह सुखी सावन,
कि इसने अभ्रदल के बीच में भी,
चाँद की किरनें जुटायीं,
दूर तक छिटकी जुन्हाई ।

---

* 'विनाशे' का बुंदेलखंडी रूप है ।

मन ! सहज उल्लास
दुनियाँ में नहीं है,
मानता हूँ,
और यह सुख,
दुःख पर है नींव इसकी
जानता हूँ,
ये सुखी से दिख रहे जन,
प्रथा है, त्यौहार है,
कपड़े बदल कर फँसेंगे ही,
फिर हिंडोले से उतर कर,
पंक दल में बसेंगे ही,
किन्तु यह सब तर्क क्या है ?
आज सावन है,
यही बस,
और वैसे फ़र्क़ क्या है ?

रोज़ जैसा ही,
सुबह उठ कर चलेंगे ले कुदाली
रोज़ जैसी ही
इन्हें मिहनत
उन्हें आराम,
उनको हुक्म, इनको काम !
किन्तु ओ भावुक, सरल मन,
यदि प्रथा है आज हँसने की,
बड़ी अच्छी प्रथा है,
हर्ष हल्का ही सही,
दो चार पल का ही सही,
तू झूल इनके साथ,

इनका दुःख तू भी भूल इनके साथ ।
किलकते बादलों के दल,
कि तू भी ज़ोर से गा दे,
बिखरती चाँद की किरनें,
कि इनमें जान-सी ला दे,
मचलती-सी जवानी में,
मिला दे प्यार जितना हो,
कि इनका आज सावन है;
प्रथा ही हो भले,
लेकिन
सजीली है, सुहावन है ।

अगस्त, १९३९

अज्ञात पंछी

उस निराली रात में जब चाँद तारों से घिरा था,
जब सुरभि के बीच पल कर फूल डाली पर गिरा था,
नीलिमा आकाश की जब वायुमंडल में भिदी थी,
जब घनी छाया उतर कर पेड़ से जी में छिदी थी,
बाँस के घन कुंज में पड़ कर किरन धँस जा रही थी,
और कटीली झाड़ियों में दृष्टि फँस जा रही थी,
दो तटों में बँध गयी रेवा हृदय खोले हुए-सी,
व्योम को लहरें उठा कर आप में घोले हुए-सी,
बह रही थी,
मैं प्रकृति-सी प्राणदा से तेज खींचे जा रहा था,
दूर पर उड़ता हुआ पंछी अकेला गा रहा था।

लघु कंठ के उस गान में आश्वास लोरी का नहीं था,
किन्तु उसको सुन रहा मैं आपको खोए कहीं था;
कौन-सा स्वर वेदना का बज उठा था उस हृदय में,
अन्य अपने साथियों-सा क्यों नहीं था वह निलय में,
क्या उसे वह चाँद, वे तारे, तरंगों की रवानी,
वायु की हलचल, सुरभि की गति, सघन वन की कहानी,
मुझ सरीखी खींच कर आकाश में पागल किए थी,
क्या मुझी-सी आँख उसकी प्यार को बेबस पिए थी,

है सुना मधुमास वाली कोकिला का गीत मैंने,
और देखी है कलापी की जगत पर जीत मैंने,
फूल छाती से लगाए बुलबुलों को जानता हूँ,
टिटहरी की दुःख-भरी आवाज़ को मैं मानता हूँ।
किन्तु इस अज्ञात पंछी के गले का पूर क्या है!
छा रहा हर ओर उसको पास क्या है दूर क्या है।

दु:ख क्या कोई जगत को जान कर जतला सका है,
दर्द क्या कोई कभी भी बोल कर बतला सका है,
मैं कि पीड़ा दीन की कहना रहा है काम मेरा,
और दुखियों से सदा घिर कर रहा है धाम मेरा,
पुत्र शोकातुर पिता की आह के बीचों पला हूँ,
मैं स्वयं भी दु:ख कन्धों पर उठा कितना चला हूं !
ये कि रमणी का हुआ सिन्दूर बिन जब भाल सूना,
चूड़ियों के टूटने का स्वर कि हाहाकार दूना,
आँख में आँसू कि जिनका स्वर सहज, भर्रा गया है,
और वे कंकाल जिनका बोल नभ थर्रा गया है,
जो हृदय को चीर डाले झोंपड़ी की वह कहानी,
लाख बहलावों में पड़ कर जो नहीं होती पुरानी,
हूबहू अंकित है जी पर, आँख मे तस्वीर जिनकी,
खींच शब्दों में नहीं पाया कभी भी पीर उनकी ।

हाय रे अज्ञात पंछी पास तेरा स्वर नहीं है,
उड़ सकूँ आकाश में ऐसा मुझे तो वर नहीं है,
लेखनी की नोक पर वर दे कि उतरें गीत तेरे,
भर चलें जग छोर ऐसे उड़ चलें ये मीत मेरे ।
दु:ख हो ले दूर ऐसी दर्द की तसवीर खींचूँ,
और पत्थर का हृदय पिघले कि उससे नीर सींचूँ,
एक कण भी दु:ख का यदि मैं जगत से खो सका रे,
एक क्षण भी यदि किसी की सान्त्वना मैं हो सका रे,
तो सफल यह रात यह तारे तरंगों की रवानी,
वायु की हलचल सुरभि की गति सघन वन की कहानी,
तो सफल तव गीत पीड़ामय सफल अस्तित्व मेरा,
जा रहा हूँ स्वर भरो तुम, मैं लिखूँगा गीत तेरा ।

मार्च, १९४०

कोकिल

आओ, आओ, आओ,
कोकिल मेरे गाओ !
हवा मन्द है,
किरण छन्द की गति से
नाच रही है;
जाँच रही है लहर
किरन की गति को
जाँच रही है;
जाँच और पड़ताल,
हवा की चाल,
किरन का नाच,
लहर की मस्ती;
कोकिल इनके
बीच गुँजाओ,
तुम भी अपना गान,
बसाओ पागलपन की बस्ती।
चुप मत बैठो
कोकिल मेरे
अपने गीत सुनाओ,
आओ, आओ, आओ,
कोकिल मेरे गाओ !

चुप्पी कैसी,
कोकिल ऐसी घड़ियाँ
फिर न मिलेंगी,
अरी हिलेंगी आज

नियम की कड़ियाँ
आज हिलेंगी;
नियम तोड़ कर,
आज जोड़ दें
रिश्ते बड़े पुराने;
अमराई में आज
हवा के साथ,
किरन के साथ,
लहर के साथ,
मिला कर हाथ,
गुँजा दें दोनों, हम-तुम, कोनों-कोनों
अपने तूम-तराने।
चुप मत बैठो कोकिल, आओ बस्ती नयी बसाओ,
आओ, आओ, आओ,
कोकिल मेरे गाओ !

जून, १९४०

साहित्य

एक दिन चुपचाप,
अपने आप
यानी बिन बुलाये,
तुम चले आये;
मुझे ऐसा लगा
जैसे जगा था रात भर
इसकी प्रतीक्षा में;
कि दोनों हाथ फैला कर
तुम्हें उल्लास से खींचा;
सबेरे की किरन ने
हर कुसुम को हास से सींचा !

एक दिन चुपचाप
अपने आप
यानी बिना कारण,
प्यार के दो-एक बंधन
ध्यान में लाये-न-लाये
कौन जाने;
कहा तुमने, अब चलूँगा,
फूल खिलते हैं न जाने
किस सरोवर में
कि मेरे चरण पर चढ़ते,
रो रहे हैं कहीं बालक यों
कि मेरी गोद में बढ़ते;
कि मैं साहित्य हूँ, तेरा नहीं हूँ,
मैं विशद विस्तार हूँ घेरा नहीं हूँ !

मैं सभी समझा नहीं;
लेकिन लगा जैसे कि
कोई बात सच्ची है।
कहा मैंने, अकेले किसलिए
लाचार घूमोगे ?
चलो मैं साथ हूँ,
तुम जिस घड़ी विंध्या चढ़ोगे,
मैं तुम्हारी गति बनूँगा,
बहुत यदि बहते दिखोगे तुम
तुम्हारी यति बनूँगा !
तुम अकेले किसलिए,
हम दो;
कि दोनों विंध्य-शिखरों पर चढ़ेंगे;
मातृ-मंदिर के लिए
छोटी-बड़ी जैसी बने मूरत
मगर मिल कर गढ़ेंगे;
मैं कहूँ किस भाँति
मैं तेरा नहीं हूँ,
मैं विशद विस्तार
जाने हूँ नहीं हूँ;
किन्तु निश्चित है कि मैं घेरा नहीं हूँ !
और तुमने हाथ फैला कर मुझे
उल्लास से खींचा,
कि अब के सूर्य किरनों ने
किरन की शक्ति के बाहर
जगत को हास से सींचा।

अक्तूबर, १९४०

असमय मेघ से—

असमय में आये हो,
बादल हो—सही है, किन्तु फागुन मे छाये हो ।
रूप ने तुम्हारे, मेघ ! धूप को पराजित किया ।
नेत्र ने सदा की भाँति उसको अमन्द पिया ।
किन्तु एक झटका है—फागुन मे छाये हो !
असमय मे आये हो !

आँख है कि देखेगी, रूप को न लेखेगी ?
रूप पर झुकेगी नही, तुम पर रुकेगी नही,
इतनी तो शक्ति नही
किन्तु बतलाता हूँ, बात मन मेरे की—
सावन मे आते हो, तब ही तुम भाते हो ।
इतने, कि कहता हूँ—
राम, तुम बरसो खूब, खेतों में सरसो खूब ।
'राम' तुम्हें कहता हूँ, इतना मै बहता हूँ ।

रूप के सिवा भी, राम,
तुमको हज़ारों मन
खेत और विन्ध्य-वन की ख़ातिर मनाते है ।
आते है आगे आज वे ही अभागे मन !
उनको नही है कभी रूप की पिपासा, मेघ,
रूप को परखे वे, तुम्हें देख हरखें वे,
—ऐसे नही है भाग्य, उन सब अभागो के !
उनको नही है ध्यान मेरी तरह कविता का !
मेघ और सविता का उनकी निगाहों मे मूल्य ससारी है;
इसीलिए भारी है आज मन उनका !

फ़सलें खड़ी हैं उनकी, उनको तुम परसना मत,
कटने के पहिले फ़सल, खेतों पर बरसना मत;

नत हूँ मैं !
जाओ तुम !
सावन में आओ तुम;
रूप से बड़ा है गुन,—ऐसा सुना है मैंने ।
दोनों को पा कर, प्राण, तुमको चुना है मैंने ।
लाज क्या रखोगे नहीं मेरी और अपनी ?
असमय में आओ मत !
बादल हो—सही है, किन्तु फागुन में छाओ मत !

फरवरी, १९४१

विश्वास

मुझे विश्वास है, मंगल विधाता सृष्टि में तेरी,
मुझे विश्वास है, विश्वास वाली दृष्टि में मेरी;
मुझे विश्वास है, दुख क्षणिक, अस्थिर और झूठा है,
हमारी कल्पना है यह कि हमसे भाग्य रूठा है।

मुझे मालूम है मंशा उजेले का, अँधेरे का,
समझना है बहुत आसान, संध्या का सबेरे का;
हवा का वेणु-वादन, वीचि का उल्लास-मय गाना,
कलापी-कंठ महिमा-मय कि गर्जन मेघ का बाना,
कृषक का गीत, सैनिक के लिए फूँकी गयी भेरी,
कि क्रंदन स्वस्थ शिशु का हो, कि हो झनकारती बेड़ी,
मुझे अकसर लगा है एक उद्गम, एक लय इनका,
अनिश्चित मध्य हो चाहे, मगर है अंत तय इनका।

मुझे विश्वास है, शाश्वत नहीं है वेदना कोई,
उसे फिर प्राण मिलने हैं कि जिसने चेतना खोयी।

अगस्त, १९४१

माघ की पूनों

दूर कोई गा रहा है,
इसलिए शायद
कि कल फागुन सजीला
आ रहा है।
माघ की पूनों
किरन-दल पर
संदेस उतार लायी,
गा उठो
संजीदगी छोड़ो
कि चलो बहार आयी।

आम पर है मौर
तौर-तरीक़ छोड़ो ठंड वाले
आज मत खाँसो-खखारो
आज मत सोचो विचारो
आज मत हारो
कि तबियत चीज़ है
आज मत हारो
कि तबियत बीज है सारे सुखों का
अंत हो लेगा दुखों का
आज पूनों माघ की है
और कल फागुन सजीला
आ रहा है!

सुनो, कुरता एक पतला साफ़ लो
पीला रँगा लो

और मस्ती हर जगह मिलती है
मनमानी मँगा लो,
चार सिक्के प्यार के फेंको
तुम्हें मस्ती मिलेगी
और मुँह पर हँसी हो
तो और भी सस्ती मिलेगी;
सतपुड़ा से कहो
तुमको पुण्य-पुष्प-पलाश देगा
आम्र-वन से कहो
तुमको मंजु-मौर-विलास देगा
कहो सूरज की किरन से
कल तुम्हें सोना मिलेगा
नर्मदा से मँगो
तुमको अमृत
भर-दोना मिलेगा;
कहो भारत की प्रकृति से
प्राण-राशि उलीच देगी
हवा से कहियौ, तरंगिणि वह
सरापा सींच देगी !

माघ पूनों का संदेसा
जगत-भर गूँजेगा कल तक
बदल जाएगा हवा का रूप
पानी, फूल, फल तक !
देखना तब
कहीं ऐसा हो न जाए
तुम अकेले

रहो घर में बंद
और बाहर घिरें
रंगीन मेले
माघ की पूनों लजाएगी
कि किस पर किरन फेंकी
चुप रही भी अगर केकी
कोकिला तो मुखर है
तुमको चिढ़ाएगी,
इसलिए इस माघ की पूनों में
वातायन पटों को खोल कर
झाँको न केवल;
दूर तक फैली हुई इस चाँदनी में
गीत की इस कशिश को मानो, उठो;
मंजु-मौर-विलास
पुष्प-पलाश
की आत्मीयता जानो, उठो !

फ़रवरी, १९४२

मधुमास

यौवन-वेला में वसंत के मधुमय क्षण सिमटे आते हों,
सुरभित शतदल पुंज, भ्रमर-दल उनके आस-पास गाते हों,
नाते जिस दिन जुड़ें प्यार के प्रकृति-पुरुष का आलिंगन हो,
बाधा-हीन पलों का जैसे पर्व नहीं कोई बंधन हो,
सिंधु-मिलन का सुख समेट कर सरिताएँ प्रशांत बहती हों,
जिस दिन गरिमा जड-चेतन की, दुर्ग-अकिंचनता ढहती हो,
रहती है जिनकी साँसों पर श्रम की छाप, समय का शासन
अमित अभाव जमाए रहता है, जिनके प्राणों पर आसन,
आँखों में उनके भी जिस दिन स्नेह स्निग्ध तरलाई छाए,
जिस दिन मूक वेदना उठ कर प्रणय स्वरों की सीमा गाए,
जिस दिन सूरज-किरन उतरते ही लहरों को रंग दे चले,
जिस दिन हवा प्राण को मानो सुधा-निमज्जित संग दे चले,
कोमल किसलय हिलें कि पत्थर के प्राणों में प्यार भर उठे,
लहर मचल कर बहे कि मरु के भी जीवन में ज्वार भर उठे,
कोयल कुहके-भर कि दिशाओं में वधुओं का भाव समाए
भौंरे गूँजें-भर कि अबोलों में गीतों का चाव समाए;
छा जाए जिस रोज़ मलय वातास प्रकंपित हास हर कहीं,
बिखर जाए फूलों के दल-सा आस-पास उल्लास हर कहीं,
जिस दिन सपने सत्य और कवियों की वाणी धन्य हो उठे,
जिस दिन की हर बात अनोखी अंतिम और अनन्य हो उठे,
क्षुद्र क्षुद्रता भूले अपनी, निज महत्त्व भूले महानता,
अनाहूत आनन्द बरस कर धरती पर भर दे समानता ।

ऐसे एक समय की आहट क्लांति, शोर, अवसाद चीर कर,
बीच-बीच में आती ही रहती है मेरे तरुण तीर पर;
इस आहट के बल पर, जोखम मुझे बहुत प्यारे लगते हैं,
इस आहट को सुना कि मन में कितने नये प्राण जगते हैं;
इस आहट के चरणों पर हर एक साँस मेरी चढ़ जाए,
मेरे जीने की उत्कटता गौरव-गरब गुनी बढ़ जाए,
मैं न करुण, दयनीय, भाग्य का एक खेल बन कर रह जाऊँ,
जीर्ण बन्धनों की महिमा का मोह न मैं क्षण-भर सह पाऊँ,
रोज़ लड़ रहे और बढ़ रहे मानव की आशा को समझूँ,
जड चेतन में व्याप्त, परम विश्वासमयी भाषा को समझूँ
मुझे सचाई का प्रकाशमय जो सागर दिख-सा जाता है,
अनदेखे अनसुने गौरवों को मन पर लिख-सा जाता है,
वह प्रकाश-सागर उमड़ा ही करे, अँधेरा हर, अनाथ हो,
उसका मेरा क्षण-दो-क्षण का नहीं, चिरन्तन संग-साथ हो,
कभी एक पल भी न निराशा की नटिनी का खेल चल सके,
निर्मम मेरी दृष्टि कि उसको, आशा इच्छामय न छल सके,
क्लांत, थके मन की कमजोरी रुके जहाँ, मैं वहाँ न रुक रहूँ,
मंज़िल की बाधा को अपना ध्येय समझ कर मैं न झुक रहूँ,
मुझे क्षणिक आश्वास प्रकृति का या कि पुरुष का रोक न पाए,
मेरे मन की व्याकुलता, विश्राम-समीरण सोख न पाए !
दो दिन का मधुमास न मुझसे कहे कि मैं मधुमास आ गया,
क्षण-भर का उल्लास न मुझसे कहे कि लो मैं जगत् छा गया।

मैं इनके विश्राम-मूल्य का हूँ कृतज्ञ, लेकिन पथ बाक़ी,
और दृष्टि-पथ की बाधा-सा आगे काल-नृपति-रथ बाक़ी,
पूरे पथ को ढाँक चल रहा इसकी महिमा को क्या कहिए,
यह युग-युग की चली चुनौती इसको अधिक कहाँ लौं सहिए,

असहनीय है यह कि काल से हार रहें धरती के बेटे,
सोचें-भर अपना अभाग कर आँख बन्द, चुप लेटे-लेटे,
अभी काल-रथ अपने आगे, इसको पीछे छोड़ें तब है,
जैसे भी हम मुड़ें कि इसको वैसा-वैसा मोड़ें तब है।
इसीलिए यदि आज चाँद की किरनों में मैं बिलम न पाया,
इसीलिए यदि आज न मैंने होली के स्वर में कुछ गाया,
अगर आज सरसों के खेतों की सीमा पर पैर न घूमे,
अगर आज मेरे ओठों ने पास-दूर के फूल न चूमे,
तो मैं लज्जित नहीं, दुखी हूँ, भले भरे आँखों में पानी
दो आशीष कि अगली रितु में कह पाऊँ कुछ अलग कहानी।

मार्च, १९४२

मिथ्या

दुख की रात बीसियों बार,
आयी है अपने भी द्वार,
जब आयी तब दिया झकोरा,
मन को दुबिधा-तल में बोरा,
आगा-पीछा सच को ढाँके,
पड़ा रहा मिथ्या को आँके,
हाय प्राण के डर के मारे,
खड़ा रहा मैं दुख के द्वारे,
पीपल का हर्-हर्-हर् झाड़,
छाती पर हो गया पहाड़,
दिन निकला पीपल को देखा,
धरती के गौरव की रेखा।
हरा-भरा मसृण बलशाली–
पंछी का सुख डाली-डाली।
बार बीसियों दुख यों आया,
जैसे इस पीपल की माया,
अपने दुख की यही कहानी
नदिया जैसा बहता पानी
दोनों तीर सींचता चलता।
सुख में आँख मीचता चलता।

जून, १९४२

रक्त-बीज

जैसे अबोध शिशु
अनहोनी घटना को
देखता है विस्मय-अवाक्;
मूढ भाव से,
जैसे चाट लेता है
आहे या कराहे बिना
झरित-रक्त-स्रोत
पशु, अपने
किसी घाव से;
उतनी लाचारी से
आज बारी-बारी से
दुनिया को अपने को
भैरव-भय-सपने को,
देखता किसान है;
रक्त-सिक्त धरती पर,
रक्त-बीज उपजे हैं,
बादल बरस कर हारे
ऊगी नहीं धान है !

जुलाई, १९४२

सत्यकाम

माता जबाला से,
पुत्र सत्यकाम ने,
हो कर प्रणत पाद-पद्मों में प्रश्न किया,
"पूज्ये, पिता हैं कौन मेरे बताइए—
कुल के अनुरूप मैं शिक्षा का इच्छुक हूँ,
मेरा कुल कौन-सा है माता जताइए;
जिससे अमत हो मत अश्रुत हो श्रुत जिससे
जिससे अज्ञात, ज्ञात होता है माता,
जिसमें समस्त पुण्य करते हैं निवास सदा
जिसमें अस्तित्व पाप खोता है माता,
आखन-पाषाण प्राप्त पांसु पिण्ड होता है,
जैसे स्वयमेव नष्ट भेदनाभिप्राय से,
वैसे ही अखण्ड दुःख होते हैं खंड-खंड,
जिसमें संसर्ग पा कर अक्षर-अकाय से,
वैसा आदेश इष्ट गुरुकुल में पाना है,
मुझको उद्गीथ-रूप प्राण-गान गाना है;
मैं हूँ किंगोत्र माता मुझको बताइए,
मुझको जताइए हे, मेरे पिता हैं कौन ?"

माता जबाला मौन !
उनके शान्त मुख पर लज्जा की लाली,
और कष्ट की घटा-सी आयी,
किन्तु क्षण दूजे ही मंगल-प्रदाता एक,
सर्वसंकोचहारी आशा की उजेली छायी,
धैर्य से उठा कर आँखें,
गौरव को निहारा अपने,
उनको लगा कि

सत्य होने पर हुए हैं सपने ।

स्निग्ध शान्त सत्यकाम,
बोले फिर धीरे से—
"माता कहूँगा क्या,
चुप ही रहूँगा क्या
हारिद्रुमान गुरु गौतम जब,
पूछेंगे मुझसे पिता का नाम !"
उत्तर में वैसी ही,
सत्यकाम जैसी ही, गूँजी गिरा
"हे वत्स, तेरा कल्याण हो
गुरु की कृपा से तुझे
मेरे है, अशेष पुण्य
ऐसा ही अश्रुत-पूर्व सम्यक् ब्रह्म-ज्ञान हो;
जैसे लवण से स्वर्ण
स्वर्ण से रजत-मय कंकण
अथवा रजत से जैसे
त्रपु का सफल हो टंकण
वैसे मुझ दीना के,
अभागिन कर्म-हीना के,
तेरे-रस-संज्ञक ओज तेज के प्रभाव से,
यज्ञावरिष्ट का प्रतिसंविधान हो ।"

साहस समेट फिर से,
माता जबाला बोलीं—
"वत्स हे, निवेदन करना,
गुरु से कमल का जन्म;
मैं हूँ नितान्त हीन,
जाने किसी पुण्य से

मुझमें हुआ है पुत्र
तुझ-से विमल का जन्म;
यौवन में सेवा करके
जीवन बिताया मैंने
सेवा के दिनों में सौम्य,
तुझको था पाया मैंने
मैं भी नहीं जानती
तेरा कुल-शील हे,
शोभन सुनील हे।
मैं हूँ जबाला
और तू है जाबालि मेरा !"

माता ने इतना कहा
कह कर आकाश हेरा,
स्नेह-भरित आँखों से
सजल सिक्त पाँखों से,
सत्यकाम नत हुए,
श्रद्धया प्रणत हुए।

'हवनीयाग्नि पूजने को
जैसे यज्ञ-दीप पहुँचे,
हारिद्रुमान गुरु गौतम समीप पहुँचे,
वैसे ही समित्पाणि
स्वर्ण-देह सत्यकाम,
गुरु के पुण्य चरणों में
झुक कर किया प्रणाम,
बोले, "भगवान् की सन्निधि में आया हूँ,
आप मुझे ग्रहण करें
अपने शिष्य भाव से

ब्रह्मचर्य-वास हेतु
समिध-भार लाया हूँ,
जिससे अमत हो मत
अश्रुत हो श्रुत जिससे
जिससे अज्ञात
ज्ञात होता है प्रभु हे,
जिसमें समस्त पुण्य
करते हैं निवास सदा
जिसमें अस्तित्व
पाप खोता है प्रभु हे,
वैसा आदेश इष्ट
मुझको प्रभु कीजिए
मुझको उद्गीथरूप
प्राण-दान दीजिए।"

गुरु ने कहा, "हे सौम्य
ब्रह्म-ज्ञान दीक्षा का
केवल अधिकार है
ब्राह्मण सुगोत्र को
तुम हो किंगोत्र वत्स ?
तुमसे हुआ है धन्य
कौन-से कृती का कुल ?"
शान्त था तपोवन सांध्य सूर्य की मरीचियों में
हौले से हिलायी गयी सरयू की वीचियों में
इंगुदी पलाश-शाल मौन मन खड़े थे चुपके
चंचल हवा के प्राण उन पर पड़े थे चुपके
कितनी प्रसन्न कलियाँ कितने सहास फूल

भूले हुए थे उस क्षण अपनी सदा की झूल
कितने अबाध्य-लोल मृग-दल प्रशांत थे,
काकली-विहीन कीड़ नीड़ों में श्रांत थे,

शान्त-चित्त सत्यकाम
चरणों में नत हुए
श्रद्धया प्रणत हुए
बोले, "हे देव, मैं हूँ अनुचर तव सत्यकाम,
मेरे पिता का नाम मुझको अज्ञात है,
माता से पूछा था आने के पहिले मैंने
उसने जो बताया
प्रभु हे, मुझको वहीं है याद—
यौवन में सेवा करके
जीवन बिताया मैंने
सेवा के दिनों में सौम्य
तुझको था पाया मैंने
मैं भी नहीं जानती—
तेरा कुल शील हे,
मैं हूँ जबाला और तू है जाबालि मेरा !"

गुरु के हृदय में एक पीड़ा-सी
उमड़ती आयी
किन्तु क्षण दूजे ही,
मंगल-प्रदाता एक
स्नेह-की घटा-सी छायी
स्नेह-भरित आँखों से,
सजल सिक्त पाँखों से,
गुरु ने लगाया गले,

सरल सत्यकाम को;
बोले, "निष्पाप हे,
निश्चय ही सुगोत्र हो तुम,
सत्य-कुल-जात हो,
वत्स तुम ब्राह्मण हो ।
ब्रह्म, ज्ञान-विद्या का,
तुमको अधिकार है,
सौम्य, शिष्य भाव तेरा,
मुझको स्वीकार है ।"

दिसंबर, १९४२

नये गीत

नये गीत लिखने का मन है
तब तू काट पुराने बंधन।

नये गीत इसीलिए कि तेरे मन में भाव नये उठते हैं
तेरे मन को कई पुराने नये-नये हो कर लगते हैं
सूरज कभी पुराना तेरे लिए नहीं होने पाता है
रोज़ चंद्रमा चाँदी भर कर तेरे लिए चला आता है
फूल रोज़ खिलते हैं तेरे लिए नयी ख़ुशबू को ले कर
आती और चली जाती है हवा नये प्राणों को दे कर
उठती है हर लहर, पुरानी रेवा की नित नये ढंग से
संध्या में बादल सजते हैं, अपने को नित नये रंग से
हर बरसात नये बादल से लदी नया लाती है पानी
हर बसंत में तुझे नयी लगती है कोयलिया की बानी
जब पीपल का पात डोल जाता है, नया तार हिलता है
नयी बात मन में उठती है, तुझको नया प्यार मिलता है

बहुत पुराने विंध्य-हिमाचल–
का तो तुझे नया है कन-कन
नये गीत लिखने का मन है
तब तू काट पुराने बंधन।

सूरज, चाँद, फूल या लहरें फागुन या बरसात सभी के
संध्या, विंध्या और हिमाचल रेवा पीपल-पात सभी के
युगों-युगों से युग के कवियों ने गाये हैं गीत सजा कर
आसपास इनकी महिमा के अपनी सारी प्रीत सजा कर
सूरज की किरनों को छू कर उनके कमल खिला करते थे
वह था अच्छा समय हवा के झोकों फूल हिला करते थे
तब कि सहारे चंद्रकिरन के विधुवदनी अभिसार न करती

उठ कर गिर कर तब कि लहर यदि श्रीविधु की मनुहार न करती
तब यदि बादल साँझ सुन्दरी के सीमान्त सिंदूर न होते
सिन्धु-मिलन के लिए नर्मदा में यदि बढ़ते पूर न होते
तो वह वाणी सत्य न होती तो वे गीत न होते मन के
वे तो हैं तब के स्वभाव ही बँधे नहीं कोई बंधन के।

किन्तु आज तो तेरे नभ के
अलग सूर्य, विधु या तारागन
नये गीत लिखने का मन है
तब तू काट पुराने बंधन।

आज घाव ज़्यादा खिलते हैं सूरज की किरनों को छू कर
और प्राण ज़्यादा हिलते हैं हवा कि जब चलती हू-हू कर
क्योंकि उजेले में संगीनें मर्म देख कर धँस जाती हैं
और हवा के साथ कि जैसे ठीक कंठ में फँस जाती हैं
आज चंद्र-किरणों पर चढ़ कर वायुयान अभिसारी होता
आज लहर यू बोट छुपाए, बेड़े का मनुहारी होता
साँझ-सुन्दरी का सिंदूर अब बादल नहीं रक्त बनता है
आज महा मानव के शोणित से सागर-शरीर सनता है
आज जहाँ पीपल का पत्ता हिला कि खटका लग जाता है
आज वसंत जहाँ आया बस नया मोर्चा जग जाता है
रित आयी बरसात की बर्मा के बंधन दृढ हुए समझ लो
और हिमाचल के हिम वाले प्राण कि उनने छुए समझ लो।

बदल गए शाश्वत-स्वभाव
भर गया पुराणों में नव-कंपन
नये गीत लिखने का मन है
तब तू काट पुराने बंधन।

सदियों का अपमान-बीज कटुता-अंकुर में फूट रहा है

नये सिरे से वज्रवक्ष सह्याद्रि-सरीखा टूट रहा है
नया क्रोध आँखों में उतरा, नया खून फिरता है रग में
क्योंकि रोज़ बाधा आती है तेरे इस पहिचाने जग में
तू भाई को गले लगाने चला कि बस रोका जाता है
जहाँ कहा अपने को अपना बस कि वहीं टोका जाता है
चारों ओर हलों का लोहा नये तरीक़े से ढलता है
हिंसा का व्यापार ज्ञान के कंधों पर चढ़ कर चलता है
प्रेम आज अपनी ताक़त के बारे में संदिग्ध हुआ है
आज अभय की आँखों से भी पानी सौ-सौ बार चुआ है
आज एक तूफ़ान कि जैसे, धरती को निगले जाता है
आज एक दश-दिशा बदलता हुआ प्रलय का दल आता है ।

प्रभु की सृष्टि नष्ट करता है
आज मनुज दानव का यह रन
नये गीत लिखने का मन है
तब तू काट पुराने बंधन ।

मई, १९४३

मेघ-मानव

मेघ के दिन, बूँद के पल
छू न जाएँ यदि मनस्तल
चाप-सतरंगी न भाए
मन हवा के सँग न गाए
तो तुम्हारे प्यार के दिन
तो तुम्हारे नेह के पल
विकल मेरे द्वार पर होंगे ।

यह भयंकरता बचा लो
मुझे वर्षा में नचा लो
घन घिरे हैं बस बहुत है
सब विरस हो, रस बहुत है
परस-पारस वंद्य-वर्षा
आ गयी है मैं न हर्षा
हे मुझे पागल बनाओ
दूसरा बादल बनाओ ।

सान्द्र-मंथर-स्वन घुमड़ कर
स्वर जगें मुझमें उमड़ कर
झड़ बना कर मुझे छोड़ो
गर्व के सौ शिखर तोड़ो
मैं हिला दूँ, दर्प के दल,
गिर पड़ें वे शीस के बल
मैं तुम्हारा चाप बन कर
खिचूँ छवि की छाप बन कर

बरसने की भक्ति ले कर
वज्र-विद्युत-शक्ति ले कर
जिसे छू दूँ हरा कर दूँ
धान-धन्या-धरा कर दूँ
मान मानव का बढ़ाओ
उसे अम्बर तक चढ़ाओ
अंक ऐसे आँक दे वह
चाँद सूरज ढाँक दे वह ।

जून, १९४३

तेरा जन्म दिन

आज तेरा जन्म दिन है,
आज हम बाहर अगर होते,
भले वर्धा कि फिर बैतूल होता,
कूल होता किसी बहती एक धारा का,
किरन उन्मुक्त सूरज की हमारे गात पर पड़ती,
जिसे छू कर हमारे प्राण बिन बाधा खिले होते,
हवा के इन्हीं झोंकों से कि जो हम पर
हुए हैं व्यर्थ हम झूमे हिले होते।

आज हम बाहर अगर होते,
तो संभव है कि तुझको घर बुलाता,
भोज दे देता और संभव है सभा करता,
वहाँ कहता कि वामन की कहानी—आदि;
अपने प्रेम से मैं वक्तृता में ओज भर देता,
और संभव है कि तेरे घर गया होता,
वहाँ का सोचता हूँ दृश्य वह कैसा नया होता,
नए कपड़े पहिन कर तब फूल-से बच्चे तुम्हारे
पुष्ट शाखाओं-सरीखी, दृढ भुजाओं पर तुम्हारी
झूमते होते, कि उनको चूमते होते तुम्हारे
ओंठ हँस कर और खिल कर; और हम मिल कर
वहाँ पर कौन जाने किस तरह से मस्त हो जाते,
कि दोनों हम, निहायत बेसुरे हैं
किन्तु फिर भी कौन जाने गीत क्या गाते
बिना सुर,
उर हमारे कौन जाने कौन से सुख में उमड़ते

आज हम बाहर अगर होते
तो निश्चय है
कि ये आषाढ बादल
और ही ढब से घुमड़ते;
रस-विरस वर्षा न होती ।
सुख सिमट कर बह चला होता
कि जब तू कह चला होता,
पुराने रस-भरे नरखेड़ के क़िस्से
कि जिनने आज तक भी
भर रखे हैं, प्यार से तेरे पिरीते प्राण के हिस्से ।

आज तेरा जन्म दिन है
और हम बाहर नहीं हैं
हम जहाँ हैं वह न वर्धा है
न वह बैतूल ही है,
और न तेरी 'धाम' मेरी 'माचना' का कूल ही है
हम जहाँ हैं उस जगह सूरज किरन का अर्थ जलना
और बादल का यहाँ पर अर्थ है प्रति बूँद गलना,
आज लेकिन यहाँ भी
जब जन्म दिन आ ही गया है,
काल गायक गीत सुख का जब यहाँ गा ही गया है,
इस घड़ी की सृष्टि जिनने की कि वे मंगल विधाता,
जोड़ दें मन में हमारे प्रेम का वह एक नाता,
यह अहाता जेल का रूखा
जिसे छू व्यस्त हो ले,
चार ही छिन के लिए जड़ता कि इसकी अस्त हो ले;

कुछ घड़ी ही के लिए अपनी हँसी का स्रोत छूटे,
आज अपनी बँध गयी-सी घिग्गियों का बाँध टूटे
आज हम उन्मुक्त मन हों
देह से ऊपर उठें हम, और जैसे
वृक्ष उठता है भला, भू पर उठें हम।

याद है तुमको कदाचित्
एक पौधा ज्वार का
गत वर्ष 'नम्बर आठ' में था;
जेल में पैदा हुआ था
किन्तु कितने ठाठ में था !
क्या हरे, लम्बे, भले पत्ते
निगाहें खींचते थे,
चाँद, सूरज और तारे
स्नेह जिन पर सींचते थे।

ठीक है यदि उस तरह से
हम हरे होते नहीं हैं,
किन्तु यह भी है कि उतनी सरलता के साथ
अपनी शक्ति हम खोते नहीं हैं।

वृक्ष जितनी सरलता से वृक्ष बनता है,
या कि जितनी सरलता से फूल खिलता है,
उस सरलता से नहीं संभव कि हम भी आदमी हों,
उस सरलता से
हमारे प्राण विकसित हों, हमारी शक्ति की पूरी कमी हो।

और यह भी है कि उनका सहज ही अवसान आता,
किन्तु अपना तो दुखों के बीच से ही प्राण आता !

भाग्य मानव का यही है, यही है उसकी बड़ाई
कष्ट ही के बीच से उसने कि अपनी प्रकृति पाई,
श्रम परिश्रम, अश्रु, संकट ही बनाते आदमी को
ये कि दुर्दिन ही वृहत् में खींच लाते आदमी को

जब वनों में उपवनों में फूल पत्ते झूमते हैं,
जब किरन के दल उतर कर प्राण उनके चूमते हैं,
तब हमारे भाग्य में है दुःख लहरें काट देना,
बढ़ रहे बाधा पलों की खाइयों को पाट देना
आज आओ सूर्य से आलोक-लिपि ले कर लिखें हम,
आज आओ धन-अँधेरे में किरन बन कर दिखें हम !
आज भारतवर्ष का आषाढ अपने प्राण में हो,
हरा कर दें हम जगत् को तत्त्व ऐसा गान में हो,
और फिर हमको मिलेगी शान्ति भी तब एक दिन हे,
बिना बाधा, बिना चिन्ता, दैन्य हीना दुःख-बिन हे,

जिस तरह शिशु चैन से स्तन्य आँखें बन्द करके
पान करता है विषम चांचल्य अपना मंद करके
या कि जैसे पक्षि-शावक, को सनेही पक्षि-माता,
खींच लेती है पुटों में उस तरह हमको विधाता
खींच कर निज क्रोड में हम पर करेगा स्नेह-वर्षण,
कर सकेंगे हम कि अपनी क्लान्ति का जिसमें विसर्जन ।

जुलाई, १९४३

दैनिक

'देना, अख़बार देना'–साथी ने
बिना कुछ बोले पढ़ना बंद करके,
हिन्दी का दैनिक वह मुझ तक बढ़ा दिया,
पहले ही नज़र जो पड़ी
देखा रण-चण्डी पर किसी भक्तदल ने
आज सहसों को चढ़ा दिया ।

पन्ना उलट कर देखा,
उसमें भी लेखा था
मरने का मारने का, जीतने का हारने का
करुणाहीन स्वर में कहीं
धमकी थी मारने की
और यदि शरण में आओ,
शेख़ी थी तारने की ।

और कहीं लिक्खा था
अन्न का अभाव है;
और कहीं कारण था अन्न के अभाव का !

आज तीन साल से ऐसी ही भयानक खबरें
ऐसे ही भयानक हाल,
ऐसी ही कठोर धमकी
ऐसे ही निर्लज्ज दावे,
कितने भयंकर सत्य, कितने भयंकर झूठ,
धावे-से करते हैं मानव के मन पर,
किन्तु हाय ! मानव के मन की क्या बात है !

देखता हैं सुनता है, सहता है इनको वह,
और खूब गौरव से कहता है इनको वह,
मंगल विधाता हे, वह दिन क्या न आएगा,
आजके इन दैनिकों की प्रतियों को छिपाएगा
मानव जब अधीर हो कर !

आगे की पीढ़ियों की छाती को न छेदें ये !
अपना भयानक भेद उन तक न भेदें ये ! !

आज का हमारा दैनिक कितना अपठच है ?
आज का हमारा मानव कितना सुसंस्कृत है,
कितना महान् है कितना असभ्य है ।

अगस्त, १९४३

ऐसा कर

कितने ही भवानी यहाँ आए हैं, गए हैं मूर्ख,
तेरे ही न दुनियाँ में गीत कुछ नये हैं मूर्ख,
तेरा स्वभाव यदि दुख से भर आने का है,
सावन के बादल-सा यदि नभ भर में छाने का है,
उसको कमज़ोरी मान, गर्व का नहीं कुछ इसमें,
दुख है आधार जिसका, पर्व का नहीं कुछ उसमें।

गाने का स्वभाव किन्तु तेरा जब पड़ा ही है,
दुनियाँ में आया, दुःख छाती में गड़ा ही है,
तब तू स्वरों में अपने ऐसा कर रस दे,
जीवन की विरसता को तू तारों पर कस दे;
ये कि उस कसाव से मिठास कुछ उपजेगी,
तेरे ही मन में सही, आस कुछ उपजेगी।
कोई यदि सुन कर उसे सिर को हिला दे अपने,
सिर पर के बोझ कोई गान में मिला दे अपने,
मंगल-विधाता के चरणों में माथा टेक,
तेरे प्रयत्न से प्रसन्न हुआ कोई एक।

अगस्त, १९४३

आशा-गीत

कौन है ?
मैं हूँ निराशा।
क्यों ?
कुछ नहीं यों ही चली आयी,
मुझे ऐसा लगा तुम, साँझ है, बेकार बैठे हो;
मुझे ऐसा लगा, तुम सोचते ही नहीं हो
लाचार बैठे हो;
मुझे ऐसा लगा, तुमको नहीं खलता
कि लाचारी तुम्हारी हट नहीं सकती;
मुझे ऐसा लगा तुम मस्त हो,
छाती तुम्हारी फट नहीं सकती।

ज़रा ठहरी कि सोचा रात हो ले,
चाँद अपनी चमकती सखियाँ समेटे, गगन म आए;
ज़रा ठहरी कि सोचा रात हो ले
और फिर कोयल कहीं पर रात में गाए;
ज़रा ठहरी कि खिल कर चाँदनी,
कोयल कुहुक कर, बरस कर अमरत,
बना दे हर किसी राई को तेरे सामने परबत;
ज़रा ठहरी कि तेरा मन हवा की लहर को छू कर
गमक बिन, ताल बिन डोले,
ज़रा ठहरी कि कोई याद मीठी-सी किसी की कान में बोले।

बहुत ठहरी तो आयी रात, आया चाँद,
तारों की लड़ी निकली,

वहुत ठहरी
लगा मुझको कि जगने की घड़ी निकली !
चली इस ध्यान में
तेरे सिरहाने बैठ कर गाऊँ,
कहीं लोरी न हो जाए कुहकती कालिमा का स्वर,
तुझे थोड़ा हिला जाऊँ !

जो आयी पास तो देखा अजब भूला-हुआ-सा तू
अभी भी गुनगुनाता है,
कि क़ैदी क्या कहूँ
तुझ पर मुझे अफ़सोस आता है !
तुझे लगता नहीं है क्या कि दीवारें खिंची हैं,
संतरी पहरे पै फिरता है ?
तुझे लगता नहीं है क्या कि तेरे इस जले सिर पर
ग़ज़ब का अब्र घिरता है ?
तुझे आती नहीं है याद क्या ओ देस के अंधे,
कभी अपने भले घर की ?
तुझे—तू सोचता क्या है
उड़ाता है बिना पर की;
रही अच्छी कि इतने पर तुझे लगता है
इसका फल भला होगा,
कि विधना ने कदाचित् ही, हमारा ख़्याल है,
ऐसा छला होगा
कि जैसा छल लिया तुझको
भुलावा जोश का दे कर,
ज़ुबाँ पर बोल बेजाने,
किसी बेहोश का दे कर !

तुझे ही क्या पड़ी थी बोल तो ऐसी
कि ले कर हाथ में झंडा निकल आया ?
कि इसकी क्या ज़रूरत थी
कि तूने इस तरह जी खोल कर गाया
बिना जाने, बिना बूझे—
अजब तेरी लगन है—देस का गाना !
कि समझा आज वह मतलब,
कि उसका अरथ अब जाना ?
तुझे लगता नहीं है अब कि सड़ना है तुझे—
तू चौंकता क्या है, यहीं, इस बन्द बस्ती में ?
पढ़े लिखे, समझता है कि घुन-सा लग गया है एक
तेरी हरी हस्ती में ?
जिसे तू देस कहता है उसी का फ़ायदा क्या है
पड़ा है तू अगर बेबस ?
कहाँ का जस मिला ?
बरसा कहाँ पर दो घड़ी रँग-रस ?

कह लिया ? हाँ क्या कहा तुमने
कि आयी रात, आया चाँद,
तारे जुड़ गये नभ में,
अभी तक कोकिला बोली नहीं थी,
आज उसके गान बेशक उड़ गये नभ में !
अभी भी—बुरा लगता है तुम्हें, अच्छी रही,
मैं गुनगुनाता हूँ !
निराशा, क्या कहा तुमने
तुम्हें अफ़सोस आता है !
इसलिए अफ़सोस आता है

कि मैं रोता नहीं हूँ देख कर पहरा,
कि मेरी वज्र छाती में समय की तेग़ ने,
खोंसा नहीं है घाव क्यों गहरा ?
तुम्हें अच्छा नहीं लगता अगर मैं हँस पड़ूँ
रोने की घड़ियों में ?
तुम्हें आख़िर सजाता क्यों नहीं हूँ मैं
कभी आँसू की लड़ियों में !
कभी इस बन्द घेरे में, भला पूछा
कि मेरी जान क्यों निकली नहीं पड़ती ?
कि यह संगीन पहरेदार की क्यों कर नहीं गड़ती मुझे,
मैं मस्त-सा क्यों हूँ,
कि अपने देस का झंडा उठाए ही रहूँ यह हठ कहाँ तक,
इस तरह मैं व्यस्त-सा क्यों हूँ ?

बहुत पूछा,
कि मैं भी पूछता-भर हूँ,
कि लम्बी बात से क्या है !
बताएँ आप रिश्ता आपका इस रात से क्या है ?
तुझे मालूम है जब चाँद उठता है गगन में
हवा बहती है,
कि कोकिल जिस घड़ी अमराइयों में कु-हू कहती है,
कहीं भी मैं रहूँ मुझको यही लगता है
जगता है अभी ईश्वर;
उतर आएगा किरनों की बना कर डोर
ऐसे में कभी ईश्वर !
मुझे मालूम है
मंगल-करन की रस्म, उनका ढंग आने का,

तभी तो
रोक ही पाता नहीं मैं लोभ गाने का।
तेरा जादू रूपहली रात में चढ़ जाए सिर पर,
तो उतारूँ उस जले सिर को;
न उमड़े एक दरिया नेह का
तो क्या करूँ ले कर बता तू ही
निराशा इस गले सिर को ?

कहा क्या ? घर ?
मुझे हाँ, लाख घर दिखते हैं, तू समझी ?
जो मेरी आँख के आगे
इबारत दर्द की
लिखते हैं, तू समझी ?
खिंची तस्वीर तेरे सामने भूखों की, नंगों की ?
उगलते आग के गोले, बड़े खूँख़ार जंगों की ?
तुझे दिखती नहीं हैं क्या
हज़ारों सूरतें—
अफ़सोस में डूबीं ?
तबीयत सिर झुकाए, मुँह छुपाए
बैठ रहने से तेरी अब तक नहीं ऊबी ?
तुझे दिखता नहीं है, दूर पर नज़रें उठा कर देख,
नज़्ज़ारा ?
कि अब तक का छलाँगें भर-रहा-सा झूठ,
अब-हारा कि तब-हारा ! !
मुझे तो साफ़ दिखता है, कि कल तक
झोंपड़ी के द्वार पर बजती है शहनाई;
निराशा, मुझे लगता है कि तू अपना समय चूकी
बिना समझे चली आयी !

महज़ घर एक
या दस-बीस के ही ख़्याल से
अपने क़दम रुक लें,
तो मेरी आरज़ू है टूट जाएँ वे क़दम
हर बार को चुक लें !
अगर ऐसे क़दम धरती को छूते हैं
तो धरती ख़ुश नहीं होती;
कि ऐसे पाँव की रफ़्तार
कितना भी करे सेहत नहीं बोती;
कि दुनिया में दरद का ज़ोर
हरगिज़ कम नहीं होता।
दरद देखे से वह भी चश्म क्या
जो नम नहीं होता ?
नमी भी चाहिए ऐसी कि जिससे आग पैदा हो;
निराशा, चाहता हूँ मैं कि तू भी आज शैदा हो
हमारे बे-समझ के काम पर बलिहार जा, भाई !
कि मेरे साथ ग़म को ठेल कर इस पार आ भाई !!

उमड़ता है अगर दर्दों का कोई इक समुन्दर तू उमड़ने दे;
घुमड़ते हैं अगर बादल ग़ज़ब के तू घुमड़ने दे;
बढ़ता हूँ क़दम तू देख बढ़ने की सिफ़त मेरी;
मुहब्बत और आशा ने बढ़ायी है सकत मेरी।
अभी लगता है
हम कमज़ोर हैं, लाचार हैं बढ़ने का मतलब क्या ?
बदल कर मगर हो जाए तुझे मालूम है, कब क्या ?
तुझे मालूम है, हर ज़ुल्फ़
अपने पेच की ख़ूबी बढ़ा कर दर्दे-सर हो ले ?

तो इसमें फिर अचम्भा क्या अगर हम आह खीचें
एक दिन उसमें असर हो ले ?
असर हो ले कि हिल उठ्ठें गगन-चुम्बीं
बड़े-पक्के जुल्म की खून में डूबी हुई भी सर्द दीवारें;
कि ठंडी हो के मुँह के बल गिरें गोली की बौछारें।
सँभल कर बार सौ-सौ भी
गिरे सहरा बुराई की बलंदी का;
सचाई के सिले में मिली पस्ती का
कि फिर हो जाए मुँह रौशन।

मगर मैं सोचती हूँ जोश में बकते हो तुम
भूले हुए हर रोज़ की घटना;
महज़ आवेश में आओ तो सम्भव हो नहीं सकता
कभी आकाश का फटना !
कहा तुमने, बुराई का गिरेगा एक दिन सहरा,
इसीसे ओढ़ लेते हो बिना सोचे हुए तुम
हर कभी दीवार का पहरा ?
अरे भोले, हज़ारों साल से तो
देखती आयी हूँ मैं दुनियाँ के ढंगों को;
कि मेरी बहिन आशा ने दिखाया है
हज़ारों साल से जिन सब्ज़ रंगों को;
हज़ारों साल से
लाखों ने अपनी जान इसकी बात में दे दी;
न जाने ले चुकी है आज तक
क़ुरबानियाँ कितनी जगत में देस की बेदी !
न जाने आज तक कितने हुए बरबाद घर,
कितनों के दिल टूटे,

न जाने आज तक कितने मिले मिट्टी में,
कितनों के करम फूटे;
हज़ारों इस तरह के दिल
कि दरिया की तरह जिनमें भरा था नेह का पानी;
बहुत ही कम कहो तो यह
कि सूरज की किरन की तरह
जिनका तेज था रौशन,
कि जिनकी ढूँढ़ने पर एकदम मिलती नहीं सानी—
इस तरह के लोग लाखों,
सुख उठाने जोग लाखों,
ठीक कहती हूँ कि इस
अंधी, बड़ी, आशा बहिन ने
बिना समझे, बिना सोचे आग में झोंके
कि तिस पर भी ख़फ़ा होते हो तुम
तुमको अगर टोके कोई
कह दें कि भाई सोचना अच्छा !
तुम्हें लगता है लेकिन
एक बस आवेश ही सच्चा !

अरे तू क्या करेगा तुच्छ
दुनिया में हज़ारों साल पहिले से
बड़े-लाखों चले आये हैं होते नत;
न उनका सिर उठा पायी मुहब्बत या सकत
जिनकी अभी तू बात करता है,
कि मेरी बात सुन भाई
कि क्यों बे-मौत मरता है ?
तुझे मालूम है इतिहास, भारतवर्ष में रजपूत थे कोई ?

तुझे मालूम है, उनमें बड़े थे और छोटे थे,
समय के पाँव पर सब तो बिना अपवाद लोटे थे ।
काल की महिमा बड़ी है;
कौन की तदबीर है ऐसी कि इससे भी लड़ी है ?
समय को सोचे बिना दीवार पर सिर मार देना
वीरता होगी कदाचित्
बुद्धि तो बेशक नहीं है ।
बुद्धि के बिन वीरता की
सफलता देखी कहीं है ?
क्या कभी देखा है कूदो आग में लपटें न झूमें ?
लड़ो राजा से
कि फिर तलवार भी गरदन न चूमे ?
मज़ा तिस पर यह
कि बिन हथियार ही लड़ने चले हो !
बहुत प्यारे हो, बड़े भोले हो, तुम कितने भले हो !

शक्ति केवल शून्य,
साधन न्यून,
पल का जोश पल्ले;
और तिस पर चल रहे हैं
रोज़ छापे, रोज़ हल्ले
एक ऐसी सल्तनत पर कल तलक सूरज
कि जिसके राज में डूबा नहीं था;
किस तरह समझें किसी भी काल में यह देश अपना
इस तरह के शक्तिशाली राज्य का
सूबा नहीं था ?
छोड़ दो बोले कि क्या

वह छोड़ देगा राज अपना ?
देखते हैं आप
आँखें खोल कर भी एक सपना;
लाख मीठा है मगर सपना है;
इसको सच न समझो;
एक सपने के लिए
संसार अपना मत मिला दो धूल में;
बाद में कहना पड़ेगा
हो गयी ग़लती, कि मैं था भूल में।

ठीक या बे-ठीक है यह जानता हूँ मैं निराशे,
देखता आया हूँ अब तक आपके तोशे-तमाशे;
आज तुम सोलह कला के साथ अपने रूप में हो;
आपकी घातें निराली;
खींचती हो सामने मेरे, अजब घड़ियाँ
कि दिन बढ़िया कि हाँ, रातें निराली !
तुम बताती हो मुझे लाखों मरे बेकार धुन में;
कुछ नहीं रक्खा
कि इस गुन में भला क्यों जान खो दूँ ?
किस लिए मैं,
एक ज़िद में रोज़ के सुख गान खो दूँ ?
मानता हूँ मैं
कि अब तक हम बहुत जीते नहीं हैं
किन्तु आशा-घट हमारे भरे हैं
रीते नहीं हैं।
और तेरे तर्क की ताक़त बड़ी भारी नहीं है,

'कोई भी बेटा
कि जिसके बाप ने
अपनी उमर में
मेंडकी मारी नहीं है,
तीर मत छू ले'
तर्क यह होगा कहीं पर;
किन्तु जिनकी आँख के आगे कहीं उद्देश्य है री,
तर्क का वैसी जगह में दूसरा ही वेश है री।
जी चुराने का नहीं मतलब वहाँ पर तर्क होता;
सोचता मैं भी तुझी-सा यदि नशे में ग़र्क़ होता;
यदि मुझे लगता की साँसें खींच कर जीना भला है,
यदि मुझे लगता कि अच्छा है कि जो जैसा चला है,
यदि मुझे लगता कि मानव अगर खा ले और पी ले,
तो उसे लाज़िम है
वह पी जाए सब कुछ और जी ले;
वह सहे अपमान, गाली भी,
कि वश कोई नहीं है;
मान के पीछे
लुटा दे जान ? रस कोई नहीं है !

तू—
मुझे मालूम है,
जाती है सबके पास चुपके,
और आयी बस जहाँ
कमज़ोरियों की बास, चुपके
कभी कह कर बात औरत की

कभी बच्चे दिखा कर;
लाख डर झूठे कि फिर
दो-चार सच्चे भी दिखा कर;
सुझाती है यह
कि छोड़े रास्ता कोई सिपाही,
अमर हो कर बैठ जाए और
छाती पर तबाही।
तुझे तब अच्छा लगे जब जान-बिन संसार हो ले;
और जब सबके मुखों पर एक ऐसा भार हो ले,
देख कर जिसको लगे, इनका क्षितिज सूरज बिना है;
ये कि इनने ज़िन्दगी का
हरेक पल सूना गिना है;
फूल खिलता है
मगर इनकी कभी तबियत न खिलती;
हिल भले जाए ज़मीं
छाती कभी इनकी न हिलती;
बरस कर हारे भले सावन
कि ये रूखे रहेंगे;
रस बहे,
लेकिन अछूते ये सदा भूखे रहेंगे।
ये न बोलेंगे, न चालेंगे,
कि इनके प्राण ग़ायब !
ये न जागेंगे,
किरन की है इन्हें पहिचान ग़ायब !
इन्हें क्या मतलब
कि कोई जुल्म दिन-दिन बढ़ रहा है ?

इन्हें क्या मालूम
मंतर काल जो कुछ पढ़ रहा है ?
काल की महिमा ?
बड़ी है जानता हूँ मैं, निराशा,
इस भरोसे की तभी तो बह रहा हूँ एक भाषा !
काल ने साम्राज्य बीसों
धूल में मल कर मिलाये।
किसलिए तूने नहीं
हाँ, नाम उन सबके गिनाये ?
हम बड़े बेलाग हैं जो बात है सच्ची कहेंगे।
वचन देते हैं नहीं आवेश में हरगिज़ बहेंगे।
किन्तु झूठा तर्क क्यों माने
कि सच से आँख मूँदे ?
कल्पना कर लें, मिटेंगे हम,
गिरा दें आँख बूँदें ?
क्यों समझ लें हम
कि दुनिया में सदा जीती बुराई ?
देखती आयी सदा नीचा शुरू ही से सचाई ?
दस अगर इस ढंग के क़िस्से
तो दस उस ढंग के हैं;
क्यों न मानें हम
कि ज़्यादातर हमारे संग के हैं ?
क्यों न हम मानें
कि जो हारा उसे था मोह कोई ?
व्यर्थ जाता ही नहीं
जग में कहीं विद्रोह कोई।
जानती है तू

लहर छोटी बड़ी जब चल चुके है,
नज़र आए, या न आए,
वह कहाँ किससे रुके है ?
और ये लहरें
कि टूटी एक दूजी दौड़ पड़ती;
पत्थरों के भी बड़े मज़बूत जी के बीच गड़ती;
तोड़ ही देती है वह दिन एक ऊँचा-सा किनारा;
इसलिए बोलो नहीं भाई कि है विद्रोह हारा।
वह कभी रुकता दिखेगा,
वह कभी झुकता दिखेगा,
और सम्भव है कभी तो
एकदम चुकता दिखेगा;
और उसका नाम,
यदि इतिहास लिख दे हार, लिख दे;
वह उसे उस काल के सिर का
भयानक भार लिख दे;
और भी लिख दे
कि वह था शाप वह ग़लती बड़ी थी,
किन्तु निश्चित है,
कि सारी श्रृंखला की वह लड़ी थी एक ऐसी
जुड़ गयी जिसमें अपर कड़ियाँ तो
आ कर जुट गयी घड़ियाँ विजय की !

जो किसी के खून से सिंच जाय
वह इतिहास है री;
और ऐसी बात तू पूछे
तो अपने पास है री !

तुच्छ है ? होंगे,
हमें दावा बड़प्पन का नहीं है;
बात बस इतनी
कि हमको प्यार बंधन का नहीं है ।
हम कि हमने
घन अंधेरी में क़दम अपने बढ़ाये ।
कम चढ़ाये हों—मगर सोचो
कि सिर कैसे चढ़ाये ?
सिर कि जिनमें दर्द था
सौदा जिन्हें सस्ता मिला था,
जान देने का जिन्हें,
भाता हमेशा सिलसिला था,
नाम उनके क्यों गिनाऊँ तू कि उनको जानती है,
और लौटी थी हज़ारों बार तब से मानती है;
ये कि
उनका जान देना काम कुछ आया नहीं है—
यह न कहती तू, निराशे,
यह मुझे भाया नहीं है ।
झूठ तो है ही कि सारे सत्य का अपमान है यह,
सत्य जैसा लगे कोई झूठ, खींचा-तान है यह ।

क्या कभी कोई सितम, बिन बात ही ख़म हो सका है ?
क्या नशा उसका कभी भी, डर बिना कम हो सका है ?
ये डेमाक्रेसी, रिपब्लिक, और कितने ही तमाशे;
बिना डर के मिल नहीं सकते थे, दुनिया को निराशे !
ये भुलाने की फ़िकर में, हैं बड़े मीठे खिलौने;
धूल सूरज पर गिराने हैं चले बदबख़्त बौने ।

हाँ, तो ये भी
गो कि वैसे तो नहीं हैं ठीक मन के,
यह न समझो बिना भनके,
जान पर आए बिना,
या चोट सौ खाए बिना,
हज़रत सितम ने दे दिये हैं;
यह न समझें,
और कम-से-कम नहीं समझाइएगा !
गीत उसके बे-सुरे सुर में, न हरगिज़ गाइएगा !!
ये नहीं मक़सद,
कि ये तो राह की कुछ मंज़िलें हैं;
मंज़िलें हैं और तय करना हमारा काम है री,
जो बढ़ा जाए कि बस इनसान उसका नाम है री।

देखती है,
किरन हिमगिरि से उतरती आ रही है ?
देखती है
तू उजेली जो जगत पर छा रही है ?
देखती है फूल खिलते हैं
हवा क्या बह रही है ?
सुन रही है
नदी जैसे गीत कल-कल कह रही है ?
दूर से आती हुई दिखती नहीं है एक टोली ?
क्या नहीं सुन पा रही तू
अटपटी-सी एक बोली ?
वे कुदाली हाथ में ले कर यहीं को आ रहे हैं
ये दरो-दीवार ज़र्दां के कि अब थर्रा रहे हैं।

आज तक हाँ, होंठ पर उनके
हँसी होती नहीं थी;
आज तक माना कि उनकी आँख में
जोती नहीं थी;
आज तक बंधन बँधे थे प्राण पर,
मन था अजाना;
और मानव हैं
कभी इतना जिन्हें जग ने न माना;
जो सदा अब तक बिना जाने हुए जी,
जी रहे थे;
आज तक जो
खून ही के घूँट जैसे पी रहे थे;
खींचते थे साँस,
घड़ियाँ ज़िन्दगी की काटते थे;
और अपने ज़ख्म को
लाचार पशु-सा चाटते थे !
वे जगे हैं आज
वे स्वर भैरवी के गा रहे हैं;
वे कुदाली हाथ में ले कर यहीं को आ रहे हैं !

वक़्त बदला है
किसी के रोकने से क्या रुकेगा,
आज लगता है कि कोई अस्माँ भी हो झुकेगा !
क्या ? चलीं ?
अच्छा, मगर ठहरो;
कि मेरा काम सुन लो,
जा रही हो किस तरफ़ ?

मुझसे दिशा का नाम सुन लो !
ज़रा पच्छिम की तरफ़ जाना,
बताना बात उनको;
ये कि होना चाहता है आज हर दिन
रात उनको।
जो जगे हैं आज जो स्वर भैरवी के गा रहे हैं
वे कुदाली हाथ में ले कर
वहाँ भी आ रहे हैं।
ये कि भाई रे, न ज़्यादे, ख़ून की नदियाँ वहाओ,
हठ करो मत, रुक रहो,
मत ख़ून में नाहक़ नहाओ;
मैल जिसमें कट सके रे,
वह सनेही सिन्धु होना;
गोलियों की व्यर्थ है वौछार,
केवल विन्दु होना एक ऐसा
आँख जिसको यदि गिरा दे, धन्य हो ले;
और दुनिया जिसे छू कर
एक और अनन्य हो ले !

क्यों ? कि शायद रुक नहीं सकतीं ?
तो अच्छा और सुन लो,
फिर कभी इस तरफ़ की सोचो
तो इतनी बात गुन लो,
पास तक आती हुई जो
दिख रही है एक टोली;
ख़ूब ऊँची हो रही है और जिनकी नेक बोली;
पाँव वे देखो कि जो

अब छूट जाना चाहते हैं
और यदि छूटे नहीं
तो टूट जाना चाहते हैं !
बन नहीं सकता कि मैं
उनके लिए जंज़ीर हो लूँ,
देस के जी में
हमेशा को कसकती पीर हो लूँ !

अप्रैल, १९४३

पहिला पानी

बरसात आ गयी रे बरसात आ गयी रे,
कल तक किरन का सोना था जान ही का गाहक,
उसका व रूप उसकी रंगत सभी था नाहक़,
उसकी तरफ़ जो ताकें, आँखों में दम नहीं थी,
हर इक किरन की गरमी सूरज से कम नहीं थी,
जलती थी धरती ऐसे, जैसे तवा हो कोई,
कमरा कहीं भी बैठो जैसे अवा हो कोई,
मिट्टी बदन कि जिसमें पड़ कर ख़राब होले,
जल-भुन के जिसमें सारी दुनिया कवाब होले,
ऐसे बखत पर बदली उठ करके छा गयी रे,
बरसात आ गयी रे, बरसात आ गयी रे।

बन कर तमाचा मुँह पर जो लू कि लग रही थी,
जो आप अपनी खू से डरती-सी भग रही थी,
छूकर जिसे हज़ारों झाड़ों के प्राण सूखे,
नालों के नद्दियों के झरनों के गान सूखे,
जिसकी लपेट में पड़ पंछी के पर नहीं थे,
वह घर में धँस न जाती ऐसे तो घर नहीं थे,
दो चार घर हुए भी ऐसे तो हमको क्या है,
उनका न कीजे चर्चा, उनको कि हमसे क्या है,
हम उस हवा के सदक़े जो लू को खा गयी रे।
बरसात आ गयी रे, बरसात आ गयी रे।

पहले झले को धरती हर बूँद पी गयी रे
मरती थी बिना पानी, पी कर के जी गयी रे,
पहले झले का पानी, पीते ही जान आयी,

कोनों में कछारों में सब्ज़े की शान छायी,
पहले झले का पानी जैसे अकास-बानी,
दुनियाँ में उसने भर दी लो हर तरफ़ जवानी,
बच्चे निकल कर दौड़े बूढ़ों ने झुक के झाँका,
मेरे किसान ने तब कजली को बढ़ कर हाँका,
उस हाँक की सुरावट बादल को भा गयी रे,
बरसात आ गयी रे, बरसात आ गयी रे।

गाँवों की बात बदली, जंगल की कुछ न पूछो,
हर-सू में नया मंगल, मंगल की कुछ न पूछो,
सौ-साठ रंगवाली नभ ने कमान पायी,
बादल गरज उठा तो सबने ज़बान पायी,
गाया हज़ार मन से, रस्ते पर चल-रहे ने,
आफ़त को भूल गाया आफ़त के पल-रहे ने,
डालों पर पड़े झूले छपरी में जमी आल्हा,
ढोलक को कई दिन में, थापों से पड़ा पाला,
हर एक अधमरे को बदली नचा गयी रे,
बरसात आ गयी रे, बरसात आ गयी रे।

मेंढक ने शोर बाँधा, चिड़ियों ने चहक खोली,
मुश्किल से लोग सुनते थे जिनकी कभी बोली,
वह मोर वह पपीहा थकते नही हैं जैसे,
सुध है कि सुध नहीं है, खोए हुए हैं ऐसे,
ठंडी हवा ने आकर जबसे इन्हें छुआ है,
भगवान् जाने तब से झाड़ों को क्या हुआ है,
पत्ती हर-एक भर कर मस्ती में हिल रही है,
डाली कि आम वाली पीपल से मिल रही है,
सूखी पड़ी थी नदिया, सो भदभदा गयी रे,
बरसात आ गयी रे, बरसात आ गयी रे।

तू उठ के बैठ जा रे लिखने में क्या धरा है,
खिड़की से झाँक तो ले कैसा हरा-भरा है,
धरती पै सरग उतरा-सा जान पड़ रहा है,
धारा से सरग धरती पर आन पड़ रहा ह,
मैदान, खेत, नद्दी, नाले में बह गया है,
तालाब में रुका है, आँगन में रह गया है,
तू इस सरग को छूकर मुरझा न, फूल जा रे,
इसको समेट लेकर हर मौत भूल जा रे,
धरती कि आज जीने का गीत गा गयी रे,
बरसात आ गयी रे, बरसात आ गयी रे।

ऐसी घड़ी में उठ कर, जीने का फल उठा ले,
अमरत की बीज गठरी, बढ़ कर सकल उठा ले,
ओठों पै गीत जीने के धर के हल उठा ले,
बोने के धुन में सिर पर बादल के दल उठा ले,
बिजली चमक रही है, बादल गरज रहा है,
सामान वज्र सिर पर गिरने के सज रहा है,
चल पड़ कि खेत तेरे तुझको बुला रहे हैं।
पागल हवा के झोंके डाली झुला रहे हैं,
बिजली महल पै गिर के जी में समा गयी रे,
बरसात आ गयी रे, बरसात आ गयी रे।

जुलाई, १९४४

घर की याद

आज पानी गिर रहा है,
बहुत पानी गिर रहा है
रात-भर गिरता रहा है,
प्राण मन घिरता रहा है,

अब सबेरा हो गया है,
कब सबेरा हो गया है,
ठीक से मैंने न जाना,
बहुत सोकर सिर्फ़ माना–

क्योंकि बादल की अँधेरी,
है अभी तक भी घनेरी,
अभी तक चुपचाप है सब,
रातवाली छाप है सब,

गिर रहा पानी झरा-झर,
हिल रहे पत्ते हरा-हर,
बह रही है हवा सरसर,
काँपते हैं प्राण थर-थर,

बहुत पानी गिर रहा है,
घर नज़र में तिर रहा है,
घर कि मुझसे दूर है जो,
घर ख़ुशी का पूर है जो,

घर कि घर में चार भाई,
मायके में बहिन आई,

बहिन आई बाप के घर,
हायरे परिताप के घर !

आज का दिन दिन नहीं है,
क्योंकि इसका छिन नहीं है,
एक छिन सौ बरस है रे,
हाय कैसा तरस है रे,

घर कि घर में सब जुड़े हैं,
सब कि इतने कब जुड़े हैं,
चार भाई चार बहिनें,
भुजा भाई प्यार बहिनें,

और माँ बिन-पढ़ी मेरी,
दुख में वह गढ़ी मेरी,
माँ कि जिसकी गोद में सिर,
रख लिया तो दुख नहीं फिर,

माँ कि जिसकी स्नेह-धारा,
का यहाँ तक भी पसारा,
उसे लिखना नहीं आता,
जो कि उसका पत्र पाता।

और पानी गिर रहा है,
घर चतुर्दिक घिर रहा है,
पिताजी भोले बहादुर,
वज्र-भुज नवनीत-सा उर,

पिताजी जिनको बुढ़ापा,
एक क्षण भी नहीं व्यापा,

जो अभी भी दौड़ जाएँ,
जो अभी भी खिल-खिलाएँ,

मौत के आगे न हिचकें,
शेर के आगे न बिचकें,
बोल में बादल गरजता,
काम में झंझा लरजता,

आज गीता पाठ करके,
दंड दो सौ साठ करके,
खूब मुगदर हिला लेकर,
मूठ उनकी मिला लेकर,

जब कि नीचे आए होंगे,
नैन जल से छाये होंगे,
हाय, पानी गिर रहा है,
घर नज़र में तिर रहा है,

चार भाई चार बहिनें,
भुजा भाई प्यार बहिनें,
खेलते या खड़े होंगे,
नज़र उनको पड़े होंगे।

पिताजी जिनको बुढ़ापा,
एक क्षण भी नही व्यापा,
रो पड़े होंगे बराबर,
पाँचवें का नाम लेकर,

पाँचवाँ मैं हूँ अभागा,
जिसे सोने पर सुहागा,

पिताजी कहते रहे हैं,
प्यार में बहते रहे हैं,

आज उनके स्वर्ण बेटे,
लग होंगे उन्हें हेटे,
क्योंकि मैं उन पर सुहागा
बँधा बैठा हूँ अभागा,

और माँ ने कहा होगा,
दुःख कितना बहा होगा,
आँख में किस लिए पानी
वहाँ अच्छा है भवानी,

वह तुम्हारा मन समझ कर,
और अपना पन समझ कर,
गया है सो ठीक ही है,
यह तुम्हारी लीक ही है,

पाँव जो पीछे हटाता,
कोख को मेरी लजाता,
इस तरह होओ न कच्चे,
रो पड़ेंगे और बच्चे,

पिताजी ने कहा होगा,
हाय, कितना सहा होगा,
कहाँ, मैं रोता कहाँ हूँ,
धीर मैं खोता, कहाँ हूँ,

गिर रहा है आज पानी,
याद आता है भवानी,

उसे थी बरसात प्यारी,
रात दिन की झड़ी झारी,

खुले सिर नंगे बदन वह,
घूमता फिरता मगन वह,
बड़े बाड़े में कि जाता,
बीज लौकी का लगाता,

तुझे बतलाता कि बेला
ने फलानी फूल झेला,
तू कि उसके साथ जाती,
आज इससे याद आती,

मै न रोऊँगा,–कहा होगा,
और फिर पानी बहा होगा,
दृश्य उसके बाद का रे,
पाँचवें की याद का रे,

भाई पागल, बहिन पागल,
और अम्मा ठीक बादल,
और भौजी और सरला,
सहज पानी, सहज तरला,

शर्म से रो भी न पाएँ,
खूब भीतर छटपटाएँ,
आज ऐसा कुछ हुआ होगा
आज सबका मन चुआ होगा।

अभी पानी थम गया है,
मन निहायत नम गया है,

एक-से बादल जमे हैं,
गगन-भर फैले रमे हैं,

ढेर है उनका, न फाँकें,
जो कि किरने झुकें-झाँके,
लग रहे हैं वे मुझे यों,
माँ कि आँगन लीप दे ज्यों;

गगन–आँगन की लुनाई,
दिशा के मन में समाई,
दश–दिशा चुपचाप हैं रे,
स्वस्थता की छाप हैं रे,

झाड़ आँखें बन्द करके,
साँस सुस्थिर मंद करके,
हिले बिन चुपके खड़े हैं,
क्षितिज पर जैसे जड़े हैं,

एक पंछी बोलता है,
घाव उर के खोलता है,
आदमी के उर बिचारे,
किस लिए इतनी तृषारे,

तू ज़रा-सा दुःख कितना,
सह सकेगा क्या कि इतना,
और इस पर बस नहीं है,
बस बिना कुछ रस नहीं है,

हवा आयी उड़ चला तू,
लहर आयी मुड़ चला तू,

लगा झटका टूट बैठा,
गिरा नीचे फूट बैठा,

तू कि प्रिय से दूर होकर,
बह चला रे पूर होकर,
दुःख भर क्या पास तेरे,
अश्रु सिंचित हास तेरे !

पिताजी का वेश मुझको,
दे रहा है क्लेश मुझको,
देह एक पहाड़ जैसे,
मन कि बड़ का झाड़ जैसे

एक पत्ता टूट जाए,
बस कि धारा फूट जाए,
एक हल्की चोट लग ले,
दूध की नद्दी उमग ले,

एक टहनी कम न होले,
कम कहाँ कि ख़म न होले
ध्यान कितना फ़िक्र कितनी,
डाल जितनी जड़ें उतनी !

इस तरह का हाल उनका,
इस तरह का ख़्याल उनका,
हवा, उनको धीर देना,
यह नहीं जी चीर देना,

हे सजीले हरे सावन,
हे कि मेरे पुण्य पावन

तुम बरस लो वे न बरसें,
पाँचवें को वे न तरसें,

मैं मज़े में हूँ सही है,
घर नहीं हूँ बस यही है,
किन्तु यह बस बड़ा बस है,
इसी बस से सब विरस है,

किन्तु उनसे यह न कहना,
उन्हें देते धीर रहना,
उन्हें कहना लिख रहा हूँ,
उन्हें कहना पढ़ रहा हूँ,

काम करता हूँ कि कहना,
नाम करता हूँ कि कहना,
चाहते हैं लोग कहना,
मत करो कुछ शोक कहना,

और कहना मस्त हूँ मैं,
कातने में व्यस्त हूँ मैं,
वज़न सत्तर सेर मेरा,
और भोजन ढेर मेरा,

कूदता हूँ, खेलता हूँ,
दुःख डट कर ठेलता हूँ,
और कहना मस्त हूँ मैं,
यों न कहना अस्त हूँ मैं,

हाय रे, ऐसा न कहना,
है कि जो वैसा न कहना

कह न देना जागता हूँ,
आदमी से भागता हूँ,

कह न देना मौन हूँ मैं,
खुद न समझूँ कौन हूँ मैं,
देखना कुछ बक न देना,
उन्हें कोई शक न देना,

हे सजीले हरे सावन,
हे कि मेरे पुण्य पावन,
तुम बरस लो वे न बरसें,
पाँचवें को वे न तरसें।

जुलाई, १९४४

क्वाँर-मास में

भिन्न-अभ्र-आकाश
सूर्य-किरणों से सज्जित,
क्वाँर-मास निरुपाय,
बरस कर, थक कर लज्जित,
आज बद्ध
प्राचीर पत्थरों में न कल्पना,
आस-पास से विलग प्राण
उड़ चला अनमना !

सादे स्नेही लोग,
सजीली लहरी खेती,
मन में उन्नत विंध्य,
सतपुड़ा-श्रेणी चेती;
चेती फैली हुई
क्षितिज तक उमड़ी रेवा,
चेता उसके पार
उतरने वाला खेवा।

चिन्तन घिरने लगा
मिटी सीमाएँ सारी,
दुनिया एकाकार हुई
दीवारें हारीं;
अंधकार होते ही,
जैसे चमकें तारे,
सादे लोग, सजीली खेती,
वन्य किनारे,

उमड़ी रेवा,
खचा हुआ खेवा, कोलाहल,
रूप और अनरूप,
धूप, छाया, पृथ्वी, जल !
जी में आने लगे
सभी मन के धन मेरे,
क्वाँर मास में
आज सूर्य-किरनों के प्रेरे ।

घिर चिन्तन के
अंधकार से नभ में मेरे
कई बार जागे हैं,
तारे प्रखर घनेरे
किन्तु आज
आनन्द-ज्योति-धारा का बहना,
जितना अनुभव किया,
कठिन है उसका कहना !
यदि होता आकाश नहीं
पृथ्वी के ऊपर,
तो इतना आनन्द
उतरता कैसे भू पर !

हे अनादि आकाश,
तमस-आलोक-शिरामय,
हे गोपन, प्रतिभात
मूक, हे मुखर, गिरामय,
प्रति-प्रभात में
पंछी जैसे गा उठते हैं,

उनके संशय-हीन-गान
ज्यों छा उठते हैं,
प्रति प्रभात में मुक्त-कंठ मैं गाऊँ वैसा,
निःसंशय आलोक-किरन तक छाऊँ वैसा।

मुझे सहज विश्वास, सहजतर स्नेह चाहिए.
घेरे मत दीवार कि ऐसी देह चाहिए;
हे असीम तुम,
कठिन धरा पर हो,
मत भूलूँ।
किसी फूल की तरह
तुम्हारे नीचे फूलूँ।

अगस्त, १९४४

अभिन्न

सब क्षणिक है, खण्ड है, सब छिन्न है,
आज का यह रूप कल तक भिन्न है,
आज अपना चिन्ह छोड़ेगा न कल,
व्यग्र कल परसों बनेगा गया पल;
और वह पल जो गया सो गया ही
जो नया आये रहे वह नया ही—
यह नहीं होगा, नया भी जाएगा;
और हर क्षण नया ही क्षण आएगा !
हर नये क्षण को पुराने की तरह,
एक परिचित प्रीत-गाने की तरह
वक्ष में भर, तार पर बोते चलो,
और बीती रागनी रीते नहीं,
इस तरह हर तार के होते चलो ।

फिर क्षणिक क्या, खण्ड क्या, है छिन्न क्या,
आज, कल, अत्यन्त और अभिन्न क्या,
सब सनातन सिद्ध और समग्र है,
सब अचिंत्य, अनादि है, अव्यग्र है ।

सितम्बर, १९४४

छूँछ पछोरे !

सीधी बात समय पर सूझे
कठिनाई से बढ़ कर जूझे,
दिशा समझ कर चले बराबर,
उसे आदमी कहो सरासर ।
दो दिन रूप
तीन दिन रूपा,
गुन-बिन
छूँछ उड़े ज्यों सूपा ।

अक्तूबर, १९४४

आशीर्वाद

कनक किरन के तारों वाली कोई सस्वर वीणा,
ललित राग में तुम झंकारो उस पर अपना जीना;
अहो रात्रि बहती है जिसमें सुख समृद्धि की सरिणी,
ऐसे किसी स्वर्ग में अपनी बदल सको यह धरणी;
ये कि प्रलय के क्षण में आ कर नौका खे दे कोई,
और चाहिए जिस क्षण जो कुछ आ कर दे दे कोई;
कठिन पंथ के रोड़े हट कर लगे फूल का मेला,
भाग्य कभी मत करने पाए तुम दो की अवहेला—
ऐसा नहीं माँगता प्रभु से,
करो विपद से रक्षा;
ज्वालाओं से दूर रचो,
इनकी पृथ्वी की कक्षा !

जीवन वीणा बने, बने वह वेणु, बने रणभेरी,
हर पुकार को प्राण समझने में न लगाए देरी;
तुम पुकार से आगे बढ़ कर अपने मान बढ़ा दो,
और ज़रूरत पड़े तो उस पर अपने प्राण चढ़ा दो;
तुम धरती पर स्वर्ग उतारो लेकिन उसका घेरा,
ऐसा नहीं चाहिए जिसमें हो दो ही का डेरा;
अपने सुख की लहर
न ऐसी उठें कि डूबे कोई,
ऐसे समय गीत मत
गाओ जिससे ऊबे कोई ।

सुदृढ नींव दुनिया के सुख की अपने दुख पर बाँधो,
और स्वर्ग धरती पर ऐसे ही सधता है साधो;

कभी प्रलय के क्षण में प्रभु से रखो न निर्बल आशा,
आने पाए नहीं ओंठ पर भीख माँगती भाषा;
चार हाथ लहरों की ताक़त कर दें पानी-पानी,
प्रलय-वात के प्राणों पर हो अंकित अभय कहानी;
श्रम की परम प्रतिष्ठा
दोनों मिल कर क़ायम कर दो,
और कठिन-पथ को फूलों से
अपने हाथों भर दो।

सदा भाग्य से परे शक्ति में जागे श्रद्धा सीमा;
सदा रहे संचरित सत्य में, व विश्वास अधीमा;
एक दूसरे की क़ीमत को ठीक-ठीक तुम जानो;
एक रहो लेकिन अपने को अलग-अलग पहिचानो;
प्रभु से अधिक माँगना क्या है
इतनी ही है इच्छा,
तुम में फूले, फैले फल कर,
युगों-युगों की शिक्षा।

४ नवंबर, १९४४

सहज शील

कहने की बात,
और होने की बात में,
बोने की बात
और काटने की बात के जैसा
सहज नाता है।

पुष्ट बीज,
सुष्ठु खेत,
साथी-संगी समेत,
सुसमय बोइए;
सींचिए सुसाध से;
रात दिन
बात बिन,
खेत को रखाइए!
काल थक जाए जब,
धान पक जाए जब,
हो कर इकट्ठे फिर,
काटिए, कटाइए!

और फिर जनाब,
ठीक वितरण की बात है;
जिसके बिना
ये जीना,
मौत की-सी रात है!

स्नेह के विचार से
भूख-भर बाँटिए,
काम ज़्यादा
कीजिएगा
बातें कम छाँटिए।

२८ नवंबर, १९४४

नया साल

पिछले साल नया दिन आया,
मैंने उसका गौरव गाया,
कहा, पुराना बीत गया लो,
आया सुख का गीत नया लो !

बोला, बीते को बिसार दें,
नये रूप पर जीं निसार दें,
कहा, व्यथा अब गीत बनेगी,
हार पुरानी जीत बनेगी !

कहा, गये की बात अलग है,
और नये की बात अलग है,
कहा, निराशा छोड़ो आओ,
पिछले बंधन तोड़ो आओ,
आओ, नया उजेला लाएँ
ऊपर-नीचे दाएँ-बाएँ,
कहा, जगत में भर दें आशा,
चुप-बैठों को दे दें भाषा !

मौत-मरी को दूर करें हम,
जग में सुख का पूर भरें हम,
अत्याचार हटा दें आओ,
जी से जान सटा दें आओ,
और न जाने क्या-क्या बोला
पिछली साल भवानी भोला !

चलने लगी समय की गाड़ी,
औंधी, तिरछी, सीधी आड़ी,
दिन पर दिन हफ़्ते पर हफ़्ता,
लगा बीतने रफ़्ता-रफ़्ता,
सूरज के जितने मनसूबे,
पूरब ऊगे पच्छिम डूबे,
मन किरनों को फिरता रहा,
नया अँधेरा घिरता रहा।

लगे रोज़ झटके पर झटके,
सुख के गीत गले में अटके,
गीत अगर निकला तो कैसा,
मरघट में सियार का जैसा,
बम की चीख़ गीत का सम था
ओठों पर दुनियाँ का दम था !

आशा दबी निराशा बाढ़ी,
ऐसी चली समय की गाड़ी,
गाड़ी के पहिये के नीचे,
नैन भवानी जी ने मीचे !

बारह बजे घड़ी में भाई,
मुँह पर उड़ने लगी हवाई
जैसे तैसे साल बिताया,
नया साल फिर से लो आया !
आप चाहते हैं कुछ बोलूँ,
नये साल का परदा खोलूँ,

इसकी आशा और निराशा,
को दे दूँ कोई परिभाषा।

अपना भाग मगर पोचा है,
अब के चुप रहना सोचा है,
हिम्मत नहीं कि बातें हाँकूँ
और बाद में बग़लें झाँकूँ;
अब के इतना-भर कहना है,
अगर जेल ही में रहना है,
पढ़ो ज़रा कम, कातो ज़्यादा,
खाओ थोड़ा सुथरा सादा।

बाहर की ख़बरों के मारे,
रहो न हरदम जी में हारे,
क्योंकि तुम्हारा उस पर बस क्या,
जहाँ नहीं बस, उसमें रस क्या ?
और अगर बाहिर हो जाओ
मत कि भीड़ ही में खो जाओ,
सोचो, समझो काम करो हे
मत हक़-नाहक़ नाम करो हे !

धँसो गाँव में बैठो जा कर,
एक ज़रा-सी कुटिया छा कर,
गले-गले तक दुख में डूबा,
है किसान जीवन से ऊबा,
धीरज उसको ज़रा बँधाओ,
अगर भाग से बाहर जाओ।

जनवरी, १९४५

अशोभन

समय को साध कर
चलता है तबीयत का अगर बजरा,
तो उसकी चोंच में
हम डाल देते हैं अजब-गजरा.
गुँजा कर तान से पल्टे से
पानी को सजाते हैं,
कि अपनी हँसी से
हम चाँदनी तक को लजाते हैं !

उदासी का पता होता नहीं है
तीर पर, जल पर,
चमक उठता है बालू का कना भी
प्राण के बल पर, बड़ी मस्ती का आलम चार-सू,
होता है दुनिया में
कि जो होता तब तसलीम-ख़ू
होता है दुनिया में !

किनाराकश अगरचे लोग हों
बजरे को देखेंगे,
कि उस पर पड़े, खिलते, हिल रहे
गजरे को देखेंगे,
हमारी हँसी का आवाज़ सुन कर
मुसकुरा देंगे,
हमारे गीत से चलते हुए भी
कुछ चुरा लेंगे,
बढ़ेगा सुर हमारा

चढ़ के उनके ओंठ पर आगे,
ज़रा-सी बात का
यह हाल होता है बखत पा के !

बड़ी भी बात बेमौक़े करो
तो जम नहीं पाती,
कि उससे टीस दर्दी की
ज़रा भी कम नहीं पाती,
उलट कर खीझ होती है
बुरा लगता है हर मन को,
महूरत समझ कर लाज़िम है,
गढ़ना-तोड़ना फन को;
गढ़े जो तोड़ने के पल में
तोड़े जब कि गढ़ना है,
बढ़े जब चाहिए हटना,
हटे जब उसको बढ़ना है,
तो उसका फन मिलेगा धूल में
जाएगा पानी में,
किसी मतलब का मत होगा,
भले अमरत हो बानी में !

कहे भूखे से जा कर
आदमीयत का कोई बंदा,
समुन्दर पार चलती है लड़ाई
दीजिए चंदा,
कहे नंगे से कोई
उठो कपड़ा जगत् को बाँटो,
तो तुमको अहले फन

लाज़िम है उसको बढ़के धर डाँटो,
न उलटे और उसके सुर में
साधो गले को अपने,
सही से अलग हो कर
सच न होंगे भले के सपने !

महज "स्लोगन" पुकारे से
न अपनी वार होती है,
यही है बेसुरे हो कर
हमारी हार होती है;
हमें कुछ दिन बड़ी बातों का
लालच छोड़ना होगा,
कि भीतर जा के गाँवों का
अखाड़ा गोड़ना होगा,
बहुत चुपचाप धीरज रख के
उनमें जान लाएँगे,
बड़ी मुश्किल से उल्लू दब के,
पंछी गान गाएँगे !

समय को साध कर खोलेंगे,
पूनों में कभी बजरा,
अभी बगिया लगाना है,
ग़लत है गरजना गजरा !

जनवरी, १९४५

छन्दोबद्ध

मैं तुम्हारे चरण तल में झुक रहा हूँ,
नाथ, लगता है मगर मैं रुक रहा हूँ,
नमन मेरे चरण तक चलते नहीं हैं,
चरण नत को इस तरह छलते नहीं हैं।

मैं अभी तक नत नहीं हूँ ठीक है यह,
छन्द के छल में पड़ा हूँ लीक है यह,
तुम अपार अलीक झंझट में कहीं हो,
इस निकम्मे काम में हरगिज नहीं हो !

किन्तु इसको छोड़ते बनता नहीं है,
नाथ मेरा मन कहीं मनता नहीं है !

मन मनाओ हे बनाओ छंद मेरा,
शब्द शतदल में नमन अलि बन्द मेरा,
लाख चरणों तक चले चलता नहीं है,
चरण नत को इस तरह छलता नहीं है !

जनवरी, १९४५

अकातर-दान

डाली ने फल एक बार जो
टपकाया सो टपकाया,
बादल ने धरती पर पानी
बरसाया सो बरसाया,
उसने फल की तरफ़ न देखा
यह कब रोया पानी को,
प्राण, अकातर हो कर दे दो
आज देह को, वाणी को !

होगी आसमान में आँधी
होगा पानी पर तूफ़ान,
बिजली लाख टूट पड़ने के
सजा रही होगी सामान,
भले आदमी ! क्या पुकार पर
नाव नहीं खोलेगा तू,
नाव नहीं है नाव नहीं है
चिल्ला कर बोलेगा तू !

फरवरी, १९४५

किरन छू कर

मन सबेरे से निहायत खिन्न है,
जोड़ जिन-जिन से जगाया है यहाँ,
आज बेचारा उन्हीं से भिन्न है !

दिल्लगी में योग दे पाता नहीं,
इस तरह का मन हमें भाता नहीं,
मुँह पै छाया और माथे पै शिकन,
बात में तेज़ी, नज़र में बेरुखी,
इस तरह का हाल जिसका बे-सबब,
कौन दुनिया में अधिक उससे सुखी !

सच, सबब कोई नहीं है–
वाहियात,
ऊब कर बैरक से फाँसी-घाट पर
आ गया हूँ–
आदमी घर छोड़ कर,
चल पड़े जैसे कि बारह-बाट पर ।

डेढ़ बजता है करारी धूप है,
छाँह में दीवार की बैठा हूँ मैं,
कभी तन कर, कभी टिक कर,
और यदि—
लगी गड़ने भीत तो लेटा हूँ मैं;
घास पर लेटा नहीं हूँ क्योंकि घास,
चार गज़ आगे खड़ी है धूप में,

और मुझको दे कर न्यौता बुला ले,
प्यार कुछ ऐसा नहीं उस रूप में!

सख़्त पत्थर की अशुभ दीवार के
बलि गया, इस प्यार पर बिक ही गया
मन उखाड़े डालता था, दो घड़ी
लेके टेका इस तरह टिक ही गया।

पीठ का टेका बनी दीवार अेक,
सामने दीवार दूजी खड़ी है,
और उस दीवार से गोया लगी,
बड़े झाड़ों की अधर-सी धड़ी है,
चार पीपल के कि दो है आम के,
आंग्ल-इमली वृक्ष गाढ़े-हरे तीन,
एक झाड़ कपित्थ का हल्का-हरा,
आंग्ल-इमली-पार्श्व में आकंठ लीन।

इस बंधी सफ़ को हिलाती है हवा,
अबाबीलों के उड़े फिरते हैं दल,
अबाबीलों को, कभी झाड़ों को मैं
देखता हूँ निकलते जाते हैं पल,
स्वर दुपहरी के सुनाई पड़ रहे,
दूर पर गलगल का हुक-हुक-हुक चला,
घड़ी में वह तेज़ होता है कभी,
और पल में यों कि जैसे चुक चला।

ध्यान से सुनता हूँ उसको; नीलकंठ
किर्र से कानों पै देता है ख़राश,

और बुलबुल की न जाने क्या कहूँ
किस तरह कीं चहक आती है हताश,
चिरप-चिर करती हुई छोटी-सी एक
झोल खाती हुई चिड़िया उड़ गयी,
इस दुपहरी के सरल सौंदर्य में,
गीत की कितनी न कड़ियाँ जुड़ गयीं।

बेसुरा जो अभी लगता था मुझे,
क़ैदियों का दूर पास पुकारना,
हो गया है इस तरह सस्वर कि हो
तार-तीबर जगह पर टंकारना,
तीन का घंटा बजा घुमटी में लो,
धूप मुझसे चार गज थी दूर जो,
चढ़ गयी है गोद में बढ़ती हुई,
प्यार का जैसे कि कोई पूर हो!

हवा ने चिड़ियों ने झाड़ों ने मुझे
किरन के लायक़ बनाया धन्य, मैं;
बे-रुखी से लद चुका आया था अब
जा रहा हूँ किरन छू कर अन्य मैं!

मार्च, १९४५

त्यौहार, घट-पटकन

हाय रे संसार सागर,
बन अगर पड़ता तो मैं
तुझको बनाता एक गागर !

झुला कर हाथों में अपने
उठा कर कंधों से ऊपर,
मैं तुझे दे मारता पल-भर
नचा कर सख़्त भू पर,
पान की-सी पीक बन बहती
तेरी मौजी अवस्था,
बिखर जाती ठीकरे की तरह
सब तेरी व्यवस्था,
शोर इस दुनिया में मचता,
मैं खड़ा हँसता कि नचता !
एक क्षण में सत्य हो जाता
सही ढंग से उजागर !
हाय रे संसार-सागर,
बन अगर पड़ता तो मैं
तुझको बनाता एक गागर ।

युग भले लग जाएँ तू
गागर बनाया जाएगा ही,
और यह त्यौहार घट-पटकन मनाया जाएगा ही,
चल रही हर घड़ी कोशिश,
तू कि घट बन भीं रहा है,
और घट बनते हुए

कंधे तलक तन भी रहा है,
मैं न तुझको हाथ से अपने
भले ही दचक पाऊँ,
किन्तु इसमें लगा हूँ बेशक
कि वह पल पास लाऊँ,
नाचता है वह महूरत,
शीश पर तेरे सरासर।
हाय रे संसार सागर!

तू बताता है कि तेरी यह
व्यवस्था है सनातन,
चले आते हैं सदा से
राव रंक रिनी महाजन,
तू सुझाता है कि घर में देख लो,
छोटे बड़े हैं,
फूल दुनिया में नरम हैं
मगर पत्थर तो कड़े हैं,
कुछ महीसुर चाहिए ही
और कुछ चंडाल होंगे,
कुछ मरेंगे भूख से,
कुछ लोग मालामाल होंगे!
पाँच उँगली हाथ की देखो
कभी क्या थीं बराबर?
हाय रे संसार सागर!

तू जँचाता पुण्य उनको,
जो कि तेरे पाप हैं रे,
वर उन्हें घोषित किए चलता

कि·जो अभिशाप हैं रे,
ढाल कहता है उसे
तलवार बन कर धँस गयी जो,
तू उसे भुज-पाश बतलाता
गले को कस गयी जो,
जो रगों में भिद गया है
ज़हर बन कर धरम है वह !
शरम है जिसको पसीने की
तुम्हारा करम है वह !
और तू लट्टू है अपनी,
इस तरह की कीमिया पर।
हाय रे संसार सागर !

हाय, सोने की किरन से
सत्य को ढाँका है तूने,
स्वर्ण-लाठी हाथ में ले कर,
समय हाँका है तूने,
जा-ब-जा आँकी है तूने
स्वर्ण की लिपि से ग़ुलामी
स्वर्ण-महिमा-राक्षसी के,
रोज़ बढ़ते हुए हामी !
अभ्र-भेदी हो गया यह स्वर्ण
युग-युग के छलों से,
हिंस्र पशु स्फीत जैसे
रक्त पी कर निर्बलों से,
सिसकता पैरों पर इसके,
है पड़ा सारा चराचर !
हाय रे संसार सागर !

चैत की प्रथमा में,
आते साल के पहले पहर में,
उतरता हूँ आज रे संसार,
मैं तेरे ज़हर में,
आज मैंने प्रलय-भेरी-स्वर
सुना, टूटेंगे बंधन,
डूब जाएँगे प्रलय के
शोर में दुनिया के क्रंदन,
आज लहरों में समा कर
आग पानी में लगाएँ,
जिस तरह से तू चला आया
अलग उससे चलाएँ,
छंद की ले कर शपथ,
निर्माण के नव-गीत गा कर,
हाय रे संसार सागर,
मैं बनाने जा रहा हूँ आज
तुझको एक गागर ।

मार्च, १९४५

दहन-पर्व

ये समय की बात है !
क्या है समय की बात ?
हम कि जो चुपचाप बैठे हैं,
चुपचाप हैं हम ठीक ही है इस समय;
क्यों ?
और कुछ चारा नहीं है;
क्या तुम्हारे सामने
अविरल चमकता हुआ,
स्थिर, ध्येय का
निष्कंप ध्रुव तारा नहीं है ?

ध्येय है याने हमें
कुछ शोर करना ही पड़ेगा,
जान है याने हमें
बे-मौत मरना ही पड़ेगा--
इस तरह की बात
अपनी समझ में आती नहीं है,
कंठ यद्यपि है वही
बरसात में भी पास उसके,
किन्तु देखा है कि तब
कोयल कुहू गाती नहीं है !

बात कोयल की मगर सोचो तो
एक मिसाल-भर है,
और मिसालों का सभी कुछ तो
सही होता नहीं है,

गान यदि बरसात में कोकिल
यहाँ बोता नहीं है,
तो नहीं है अर्थ
वह चुपचाप ही बैठा हुआ है,
है ज़रूरत जहाँ उसकी,
वह वहाँ पैठा हुआ है !
याने जहाँ मधुमास है,
मौसम जहाँ है फूल वाला !
है न नभ-व्यापी जहाँ पर
वज्रहस्ता-मेघमाला !
उस जगह कोयल अगर गाए
तो इसमें अजब क्या है,
है कहाँ इसमें असम्भव,
और इसमें ग़ज़ब क्या है ?
हम जहाँ चुपचाप हैं,
कुछ है नहीं अमराइयाँ वे,
मँजरी से भरी कोई,
तरल-गंध-तराइयाँ वे,
खाइयों में मौत की जो
लोग साँसे खींचते हैं,
दृश्य से जिनके स्वयं
यमराज आँखें मीचते हैं,
सामने उनके तुम्हारा,
व्यर्थ है आरोह,
या अवरोह पंचम तान वाला,
जिसे सुनने का समय हो
तान-लय-पल्टे तुम्हारे

है नहीं ऐसा यहाँ
बेकार, ऊगर कान वाला ।

खाइयों में मौत की,
जो गा सके गायक वही है
जो न पथ की कठिनता से
रुक रहे पायक वही है;
कठिन पथ देखा तो
मोड़े पाँव छाती से लगाये
मौत से घिर कर न अपने
कंठ को भी खोल पाये;
यदि कठिन क्षण में
सहज गति हैं
न सच्चे राग हैं हम—
तो किरन, धरती, हवा के
वक्ष पर के दाग़ हैं हम !

कई दिन से इस तरह का बहुत कुछ
मन में चला है,
हाय, कितनी बार मेरी बुद्धि ने
मुझको छला है,
मुझे लगता है कि यह लिखना
नहीं है काम कोई,
कर नहीं सकते लहर का स्वर
हवा में नाम कोई,
दुःख है चारों तरफ़, चारों तरफ़
लाचारियाँ हैं,
कष्ट राजा की जगत में रोज़,

सौ दातारियाँ हैं,
ये बिना-चाहे भयंकर दान
जिनसे खो सकेंगे,
इस तरह की गान मेरी ज़ात से
क्या हो सकेंगे ?

मर गया तुलसी कि कबिरा ने
बड़ी आत्मा उलीची,
सूर ने हरचन्द कोशिश की,
परम तस्वीर खींची,
ये कि नानक ज्ञानबा,
दादू कि नरसी और मीरा,
इस जगत की डाढ़ में सब
रह गये बन एक ज़ीरा,
और फिर गुरुदेव के आकार में,
जो जोत उतरी,
गीत की उससे अधिक क्या,
हो सकेगी मूर्ति सुथरी ?
उस तरह का स्नेह,
वैसी सुधा,
वैसा प्राण-मय स्वर,
और वह आकाश-मय
विश्वास-वाणी, वह अभय वर,
वेद के ऋषियों सरीखी
सर्वव्यापी दृष्टि उनकी,
दुःख की दृढ भित्ति पर,
उन्नत अकातर सृष्टि उनकी,

उस तरह के अरुक छन्दों में
तपस्या-पूत-आशा,
ध्यान-गुरु-गम्भीर उनकी
शब्द-ब्रह्मी-भूत-भाषा,
उमड़ कर आ-सिन्धु
हिमगिरि तक बहे ज्यों
स्नेह-सावन,
ये अजस्र-सहस्र-धारा-धृत
हमारे पुण्य पावन,
बहे बरसे जहाँ दुनियाँ को
ज़रूरत हुई उनकी,
भेद माने बिना विधि की
भाँति करुणा चुई उनकी !

किन्तु जग जागा नहीं,
छू कर इसे दुनियाँ न चेती,
लहरने पायी नहीं मनु की
निरायी हुई खेती !

हाय रे ऐसी उदासी,
यह निराशा-जड़ी भाषा,
आज जीवन को विकलतर
बना कर करती तमाशा,
जिसे जीवन व्रत बना कर
आज तक मैं चल रहा था,
शुक्र तारे की तरह जो हर प्रभाते
जल रहा था,

आज संशय किरन उनकी मूर्ति—
पोंछे दे रही है !

तर्क उठते हैं कि आख़िर
तुम्हीं क्यों मरने चले हो,
जो किसी से हो नहीं पाया
उसे करने चले हो,
जगत की जो चाल है वह चलेगा
उस चाल से रे,
तुच्छ कवि का इस तरह लड़ना
न होगा काल से रे !

ग़लत है प्रतिवाद करता हूँ,
हमें बल चाहिए हे,
प्राण दे कर भी हमें इसका
कहीं हल चाहिए हे;
जो प्रमाणों से अगोचर,
जो परे अनुमान से है,
तर्क हँसता है जिसे,
लेकिन गुँथा जो प्राण से है,
लाख संशय-निबिड़ वेला में
जिसे मन जानता है,
बीसियों व्याघात में
जो मर्म को पहिचानता है,
जो कि जल को कूल को,
जो दिशा को भूला नहीं है,
जो हवा के थपेड़ों की
चोट पर झूला नहीं है,

कर्ममय विश्वास-पारावार
ऐसा साधना है,
आज प्राणों की नये ढंग से,
नयी आराधना है ।

आग फैली है भले इस आग का
स्वागत करें हम,
आज की ज्वाला कि इसको
साँस में अपनी भरें हम,
हम न बचने की करें कोशिश,
लपट खीचें, लपेटें,
आज यह पावक कि इसको
पाप पर अपने समेटें,
यह हमारे पाप से भड़की इसे
हम पुण्य मानें,
इस अशुभ से परे का उद्देश्य
समझें, उसे जानें ।

हम न यह कहते रहें इसमें
न अपना हाथ होगा,
आज ज्वाला का बुरे अच्छे सभी से,
साथ होगा;
हमें चुनना है हमारा काम इस
जलती घड़ी में,
चुप नहीं हम बैठ रह सकते कभी
चलती घड़ी में,
हम कि चुप बैठें नहीं,
ज्वाला न हमसे दूर जाए,

आज अपने प्राण में यह
पाप-उद्गत पूर आए ।

काल करके दया लाया है
जलन की यह अवस्था,
गल रही जिसमें निरंतर
युगों की बेबस व्यवस्था,
जल रहा है आज सब कुछ
लाख छोटा हो, बड़ा हो,
फूल हो, पत्थर हो, कोमल हो
कि फिर चाहे कड़ा हो,
जल रहा है इस लपट में कहीं
माँ का लाल कोई,
राख होता है सती-सिन्दूर
शोभा-भाल कोई,
बुझ गया इस जोत में
बूढ़े की आँखों का उजेला,
घिर गया है प्यार का इसमें
समूचा एक मेला !
हर तरह के लोग इसमें तपें,
तू बैठा रहेगा।
हाय, इतना सुख
जलन के बीच में कैसे सहेगा ?
क्या अपाहिज हो न जाएगी,
सनातन सत्य वाणी,
क्या नये युग पर न जम जाएगी
तेरी नातवानी !

आदमी से आदमी की ओट
इसका अर्थ होगा
विश्वव्यापी यह दहन का पर्व
तुझ पर व्यर्थ होगा !!

आज भी ओ नेक, दामन को
बचा कर चल न अपने,
तू अगर झुलसा नहीं तो
सच न होंगे पुण्य सपने,
विश्वव्यापी आग का मतलब
कि मानव एक है रे,
अछूता बद की बदी से नहीं वह
जो नेक है रे,
हर बदी में नेक का हिस्सा है
मेरे नेक समझो,
मौत के इस उजेले में
आदमी को एक समझो,
और अपनी इस समझ को शोर के ऊपर उठाओ,
आज चुप बैठो नहीं, हे इस तपन के बीच आओ,
सूर के, कबिरा के, तुलसी के, चरण में सिर झुका कर
सच कहो गुरुदेव के आश्वासमय आशीष पा कर।

मार्च, १९४५

गीत-फ़रोश

जी हाँ हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ,
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ,
मैं क़िसिम-क़िसिम के गीत बेचता हूँ !

जी, माल देखिए, दाम बताऊँगा,
बेकाम नहीं हैं, काम बताऊँगा,
कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैंने,
कुछ गीत लिखे हैं पस्ती में मैंने,
यह गीत सख़्त सर-दर्द भुलाएगा,
यह गीत पिया को पास बुलाएगा !

जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको;
पर बाद-बाद में अक़्ल जगी मुझको,
जी, लोगों ने तो बेच दिये ईमान,
जी, आप न हों सुन कर ज़्यादा हैरान—
मैं सोच समझ कर आख़िर
अपने गीत बेचता हूँ,
जी हाँ हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ,
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ,
मैं क़िसिम-क़िसिम गीत बेचता हूँ !

यह गीत सुबह का है, गा कर देखें,
यह गीत ग़ज़ब का है, ढा कर देखें,
यह गीत ज़रा सूने में लिक्खा था,
यह गीत वहाँ पूने में लिक्खा था,
यह गीत पहाड़ी पर चढ़ जाता है,
यह गीत बढ़ाए से बढ़ जाता है !

यह गीत भूख और प्यास भगाता है,
जी, यह मसान में भूख जगाता है,
यह गीत भुवाली की है हवा हुज़ूर,
यह गीत तपेदिक़ की है दवा हुज़ूर,
जी, और गीत भी हैं दिखलाता हूँ,
जी, सुनना चाहें आप तो गाता हूँ।

जी, छंद और बेछंद पसंद करें,
जी अमर गीत और वे जो तुरत मरें !
ना, बुरा मानने की इसमें बात,
मैं ले आता हूँ क़लम और दावात,
इनमें से भाये नहीं, नये लिख दूँ,
जी, नये चाहिए नहीं, गये लिख दूँ !
मैं नये, पुराने सभी तरह के
गीत बेचता हूँ,
जी हाँ, हुज़ूर मैं गीत बेचता हूँ,
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ।

मैं क़िसिम-क़िसिम के गीत बेचता हूँ !
जी, गीत जनम का लिखूँ मरण का लिखूँ,
जी, गीत जीत का लिखूँ, शरण का लिखूँ,
यह गीत रेशमी है, यह खादी का,
यह गीत पित्त का है, यह बादी का !
कुछ और डिज़ाइन भी हैं, यह इल्मी,
यह लीजे चलती चीज़, नयी फ़िल्मी,
यह सोच-सोच कर मर जाने का गीत,
यह दुकान से घर जाने का गीत !

जी नहीं, दिल्लगी की इसमें क्या बात,
मैं लिखता ही तो रहता हूँ दिन-रात,
तो तरह-तरह के बन जाते हैं गीत,
जी, रूठ-रूठ कर मन जाते हैं गीत !
जी, बहुत ढेर लग गया, हटाता हूँ,
गाहक की मर्ज़ी, अच्छा जाता हूँ;
या भीतर जा कर पूछ आइए आप,
है गीत बेचना वैसे बिलकुल पाप,
क्या करूँ मगर लाचार
हार कर गीत बेचता हूँ !
जी हाँ, हुज़ूर मैं गीत बेचता हूँ,
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ !
मैं क़िसिम-क़िसिम के गीत बेचता हूँ !